जैनधर्म की कहानियाँ

भाग-3

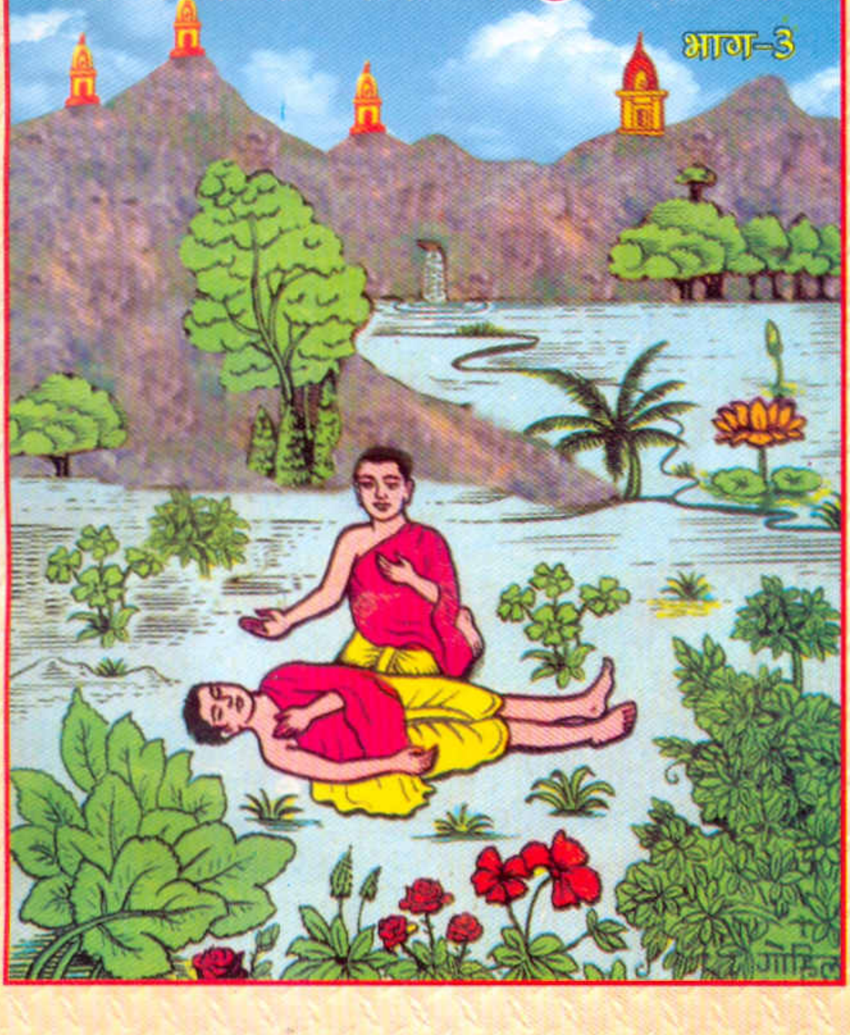

प्रकाशक

अखिल भा. जैन युवा फैडरेशन-खैरागढ़

एवं

श्री कहान स्मृति प्रकाशन - सोनगढ़

श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रंथमाला का तीसरा पुष्प

जैनधर्म की कहानियाँ

(भाग – ३)

लेखक :

ब्र. हरिभाई सोनगढ़

अनुवादक :

सौ. स्वर्णलता जैन एम.ए., नागपुर

सम्पादक :

पण्डित रमेशचन्द जैन शास्त्री, जयपुर

प्रकाशक :

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन

महावीर चौक, खैरागढ़ – ४९१ ८८१ (मध्यप्रदेश)

और

श्री कहान स्मृति प्रकाशन

सन्त सान्निध्य, सोनगढ़ – ३६४२५० (सौराष्ट्र)

प्रथम चार आवृत्ति - 20,000 प्रतियाँ
पंचम आवृत्ति - 5,000 प्रतियाँ
(मंगलायतन, अलीगढ़ में आयोजित प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर)
दिनांक 31 जनवरी से 6 फरवरी, 2003

© सर्वाधिकार सुरक्षित

न्यौछावर – सात रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान –

- **अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, शाखा – खैरागढ़**
  श्री खेमराज प्रेमचंद जैन, 'कहान-निकेतन'
  खैरागढ़ – 491881, जि. राजनाँदगाँव (म.प्र.)

- **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट**
  ए-4, बापूनगर, जयपुर – 302015

- **ब्र. ताराबेन मैनाबेन जैन**
  'कहान रश्मि', सोनगढ़ - 364250
  जि. भावनगर (सौराष्ट्र)

टाईप सेटिंग एवं मुद्रण व्यवस्था –

जैन कम्प्यूटर्स,
श्री टोडरमल स्मारक भवन, मंगलधाम,
ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015
फोन : 0141-2700751
फैक्स : 0141-2709865

卐 अनुक्रमणिका 卐

एक था बंदर	11
एक था मेंढ़क	15
कहाँ है मेरा चिदानंद प्रभु ?	19
भाव परिवर्तन की कला	23
महान भावपरिवर्तक बहुरूपी ब्रह्मगुलाल	23
कलाकार अंगारक की कथा	37
आत्मसाधक वीर गजकुमार	47
द्वारिका कैसे जली	50
श्रीकृष्ण की मृत्यु	61
पाण्डवों का वैराग्य	69
वैराग्य भावना	74

प्रकाशकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रभावित आध्यात्मिक क्रान्ति को जन-जन तक पहुँचाने में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का योगदान अविस्मरणीय है, उन्हीं के मार्गदर्शन में अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन की स्थापना की गई है। फैडरेशन की खैरागढ़ शाखा का गठन 26 दिसम्बर, 1980 को पण्डित ज्ञानचन्दजी, विदिशा के शुभ हस्ते किया गया। तब से आज तक फैडरेशन के सभी उद्देश्यों की पूर्ति इस शाखा के माध्यम से अनवरत हो रही है।

इसके अन्तर्गत सामूहिक स्वाध्याय, पूजन, भक्ति आदि दैनिक कार्यक्रमों के साथ-साथ साहित्य प्रकाशन, साहित्य विक्रय, श्री वीतराग विद्यालय, ग्रन्थालय, कैसेट लायब्रेरी, साप्ताहिक गोष्ठी आदि गतिविधियाँ उल्लेखनीय हैं; साहित्य प्रकाशन के कार्य को गति एवं निरंतरता प्रदान करने के उद्देश्य से सन् 1988 में श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रन्थमाला की स्थापना की गई।

इस ग्रन्थमाला के परम शिरोमणि संरक्षक सदस्य 21001/- में, संरक्षक शिरोमणि सदस्य 11001/- में तथा परमसंरक्षक सदस्य 5001/- में भी बनाये जाते हैं, जिनके नाम प्रत्येक प्रकाशन में दिये जाते हैं।

पूज्य गुरुदेव के अत्यन्त निकटस्थ अन्तेवासी एवं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन उनकी वाणी को आत्मसात करने एवं लिपिबद्ध करने में लगा दिया – ऐसे ब्र. हरिभाई का हृदय जब पूज्य गुरुदेवश्री का चिर-वियोग (वीर सं. 2506 में) स्वीकार नहीं कर पा रहा था, ऐसे समय में उन्होंने पूज्य गुरुदेवश्री की मृत देह के समीप बैठे-बैठे संकल्प लिया कि जीवन की सम्पूर्ण शक्ति एवं सम्पत्ति का उपयोग गुरुदेवश्री के स्मरणार्थ ही खर्च करूँगा।

तब श्री कहान स्मृति प्रकाशन का जन्म हुआ और एक के बाद एक गुजराती भाषा में सत्साहित्य का प्रकाशन होने लगा, लेकिन अब हिन्दी, गुजराती दोनों भाषा के प्रकाशनों में श्री कहान स्मृति प्रकाशन का सहयोग प्राप्त हो रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप नये-नये प्रकाशन आपके सामने हैं।

साहित्य प्रकाशन के अन्तर्गत् जैनधर्म की कहानियाँ भाग 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10, 11, 12,13,14 एवं लघु जिनवाणी संग्रह : अनुपम संग्रह, चौबीस तीर्थंकर महापुराण (हिन्दी-गुजराती), पाहुड़ दोहा-भव्यामृत शतक-आत्मसाधना सूत्र, विराग सरिता तथा लघुतत्त्वस्फोट – इसप्रकार इक्कीस पुष्प प्रकाशित किये जा चुके हैं।

तीसरे पुष्प का यह पंचम संस्करण प्रकाशित कर हमें इस बात पर अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि इन कहानियों के माध्यम से बाल-युवा-वृद्ध सभी भरपूर लाभ ले रहे हैं। इस भाग में पुराण पुरुषों के भव-भवान्तरों के आधार पर तत्त्वज्ञान से आपूरित, वैराग्य एवं ज्ञानबर्द्धक 10 कहानियाँ दी जा रही हैं। जिनका सम्पादन पण्डित रमेशचन्द जैन शास्त्री, जयपुर ने किया है। अत: हम आपके आभारी हैं।

आशा है पुराण पुरुषों की कथाओं से पाठकगण अवश्य ही बोध प्राप्त कर सन्मार्ग पर चलकर अपना जीवन सफल करेंगे।

जैन बाल साहित्य अधिक से अधिक संख्या में प्रकाशित हो – ऐसी भावी योजना है। इसी के अर्न्तगत् जैनधर्म की कहानियाँ भाग-15 शीघ्र आ रहा है। तथा अब शीघ्र ही "**जैन कामिक्स**" के प्रकाशन की योजना आरम्भ कर रहा है।

साहित्य प्रकाशन फण्ड, आजीवन ग्रन्थमाला शिरोमणि संरक्षक, परमसंरक्षक एवं संरक्षक सदस्यों के रूप में जिन दातार महानुभावों का सहयोग मिला है, हम उन सबका भी हार्दिक आभार प्रकट करते हैं, आशा करते हैं कि भविष्य में भी सभी इसी प्रकार सहयोग प्रदान करते रहेंगे।

विनीत:

मोतीलाल जैन
अध्यक्ष

प्रेमचन्द जैन
साहित्य प्रकाशन प्रमुख

आवश्यक सूचना

पुस्तक प्राप्ति अथवा सहयोग हेतु राशि ड्राफ्ट द्वारा
"**अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, खैरागढ़**" के नाम से भेजें।
हमारा बैंक खाता स्टेट बैंक आफ इण्डिया की खैरागढ़ शाखा में है।

जीवन में ध्यान रखने योग्य बातें

1. प्रातः सदा ही सूर्योदय से पूर्व उत्साहपूर्वक उठो।
2. उठते ही पंचपरमेष्ठी का विनयपूर्वक स्मरण करो।
3. विचार करो, मैं चेतन हूँ, देह नहीं हूँ। सिद्धों के समान ज्ञान और आनन्द ही मेरा स्वरूप है।
4. शौच, स्नान आदि करके नित्य जिनदर्शन करो।
5. चित्त को सदा पवित्र रखो पवित्र चित्त में ही अच्छी शिक्षायें ठहरती हैं।
6. नित्य निर्दोष वीतराग साहित्य का स्वाध्याय करो।
7. मन में कोई भी गन्दा विचार, आलस्य तथा दुर्भाव न आने दो।
8. किसी की चुगली व निन्दा न करो।
9. कठोर, अप्रिय व निंद्य वचन न बोलो।
10. सदा ही आध्यात्मिक व ज्ञान-वैराग्य पद एवं भजन गाते रहने की आदत बनाओ। सिनेमा के गीतों को मत गाओ।
11. बड़ों के सामने, बड़े की विनय एवं शिष्टाचार से वर्तन करो।
12. वस्त्र, पुस्तकें व घर की प्रत्येक वस्तु नियत स्थान पर रखो।
13. समय, स्वास्थ्य व सम्पति का सदुपयोग करो।
14. अपने सुख के लिये भी कभी किसी को कष्ट न दो।
15. अपने सुख के साथ दूसरों के सुख का भी ध्यान रखो।
16. यदि मित्र ही बनाना हो तो सत्साहित्य को बनाओ।
17. अपने दोषों को दूर करने के लिये महापुरुषों को अपने जीवन का आदर्श बनाओ।
18. जगत का कोई भी पदार्थ अपना भला-बुरा करने वाला नहीं है।
19. निर्मोही एवं वीतराग पुरुषों को आदर्श बनाकर उनके जीवन चरित्रों को पढ़ो।
20. अज्ञान एवं राग-द्वेष के कारण ही जगत के पदार्थ अच्छे और बुरे दिखाई देते हैं।
21. अज्ञान और राग-द्वेष ही दुःख का एकमात्र कारण है।
22. अज्ञान एवं राग-द्वेष को दूर करने का निरन्तर प्रयत्न करो।

एक था बंदर

एक था बंदर ! वह पूर्वभव में मनुष्य था, परन्तु उस समय उसने अपनी आत्मा को ना समझकर बहुत छल-कपट किया, वहाँ से मरकर बंदर हुआ।

वह बंदर एक वन में रहता था। बंदर भाई वन में रहकर खूब फल-फूल खाता। एक झाड़ से दूसरे झाड़ पर उछल-कूद करता। ऊँची-ऊँची छलाँग मारकर हूआ-हूआ करके डराता।

उस वन में कई बार मुनिराज आते और झाड़ के नीचे ध्यान में बैठे हुए मुनिराज को देखकर बंदर बहुत खुश होता और तब वह उस झाड़ के ऊपर ऊधम नहीं मचाता।

एक बार उस वन में एक राजा और रानी आये। राजा का नाम वज्रजंघ था और रानी का नाम श्रीमती। उन राजा के दो पुत्र जो मुनि हो गये थे, वे मुनि उस वन में आ पहुँचे। तब राजा-रानी ने उन दोनों मुनिवरों को भक्ति-भाव से आहारदान दिया।

बंदर वृक्ष के ऊपर बैठा-बैठा यह सब देख रहा था। यह सब देखकर उसे ऐसी भावना जागी कि यदि मैं मनुष्य होता तो मैं भी इन राजा की तरह मुनियों की सेवा करता, परन्तु अरे रे ! मैं तो पशु हूँ.... मेरा ऐसा भाग्य कहाँ....कि मैं मुनिराज को आहार दे सकूँ।

आहार दान के बाद वे मुनि उपदेश देने के लिए बैठे। राजा-रानी उनका उपदेश सुन रहे थे। बंदर भी वहाँ बैठा-बैठा उपदेश सुन रहा था....और दोनों हाथ जोड़कर मुनिराजों की वन्दना कर रहा था।

बंदर को इस प्रकार व्यवहार करते देख राजा बहुत खुश हुये और उन्हें बंदर के ऊपर प्रेम उमड़ा। तब राजा ने मुनिराज से पूछा – "यह बंदर कौन है ?"

उसी समय मुनिराज ने कहा – "हे राजन् ! यह बंदर पूर्वभव में नागदत्त नाम का बनिया था, उस समय बहुत कपट भाव करने के कारण

यह बंदर हुआ है; परन्तु अब इसे उत्कृष्ट भाव जागा है, इसे धर्म के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ है। धर्म उपदेश सुनने से यह बंदर बहुत खुश हुआ है, उसे पूर्वभव का स्मरण हुआ है और संसार से उदास हो गया है।''

मुनिराज के मुख से बंदर का वृत्तांत सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुए।

फिर मुनिराज ने कहा – हे राजन् ! जिस प्रकार इस भव में हम तुम्हारे पुत्र थे, उसी प्रकार यह बंदर भविष्य में तुम्हारा पुत्र होगा। जब तुम ऋषभदेव तीर्थंकर होगे, तब यह जीव तुम्हारा गणधर होगा और फिर मोक्ष प्राप्त करेगा।

अहा, मुनिराज के मुख से यह बात सुनकर बंदर भाई तो बहुत ही खुश हुआ और भावविभोर होकर मुनि के चरणों की वन्दना करके आनंद से नाचने लगा।

अपने मोक्ष की बात सुनकर किसे आनंद नहीं होगा ? बंदर भाई के तो आनंद का पार न रहा, वह प्रतिदिन उत्कृष्ट से उत्कृष्ट भावना भाने लगा....जैसे कोई मनुष्य हो....और मोक्ष प्राप्त करने वाला हो। अन्त में वह बंदर मरकर मनुष्य हुआ और भोग-भूमि में जन्मा, राजा और रानी के जीव भी वहीं जन्मे थे।

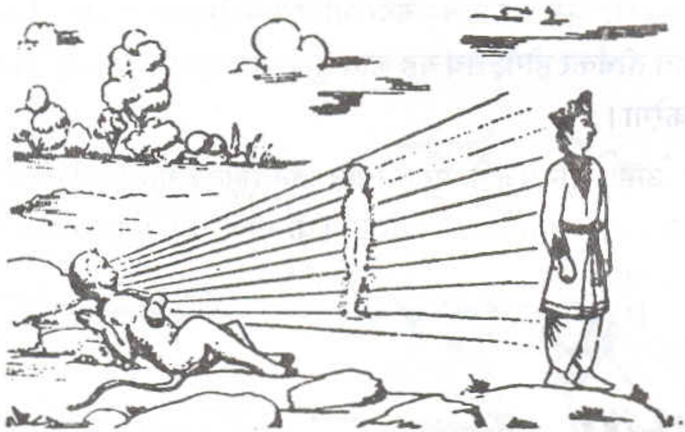

एक बार वे सभी बैठकर धर्मचर्चा कर रहे थे। तभी आकाश से दो मुनिराज वहाँ उतरे....और अनेक प्रकार से धर्म का उपदेश दिया और आत्मा का स्वरूप समझाया।

मुनिराज के उपदेश को सुनकर उन सभी जीवों ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया....और मोक्षमार्ग में चलने लगे।

फिर वे सभी जीव वहाँ से आयु पूर्ण करके स्वर्ग गये और चार भव बाद राजा का जीव ऋषभदेव तीर्थंकर हुआ, उसी समय बंदर का जीव उनका पुत्र हुआ, उसका नाम गुणसेन था। वे भगवान से दीक्षित होकर ऋषभदेव भगवान के गणधर हुये, अंत में केवलज्ञान प्रकट करके मोक्ष प्राप्त किया।

अहो ! जो कभी बंदर था, आज वह भी आत्मा को समझकर भगवान बन गया। वह जीव धन्य है।

भाइयो ! सच्चे वीतरागी मुनि की भक्ति से और आत्मा को समझने से, एक बंदर का जीव भगवान बन गया। हम सभी भी अपनी आत्मा को समझें और मुनियों की सेवा करें।

एक था मेंढ़क

ढाई हजार वर्ष पहले की बात है। जिस समय भगवान महावीर इस भारतभूमि पर विचरण करते थे....और धर्म का उपदेश देते थे।

महावीर प्रभु एक बार राजगृही नगरी में पधारे। राजगृही नगरी बहुत ही रमणीय थी। वहाँ श्रेणिक राजा राज्य करते थे। वे राजा जैनधर्म के महान भक्त थे।

एक दिन माली ने आकर राजा को समाचार दिया कि नगरी के पास वैभार पर्वत पर महावीर प्रभु पधारे हैं।

श्रेणिक राजा यह सुनकर बहुत खुश हुए और माली को बहुत इनाम दिया....और नगरी में ढिंढोरा पिटवाया "महावीर प्रभु पधारे हैं, सभी लोग उनके दर्शन करने के लिए चलो,....उनके उपदेश सुनने के लिए चलो।"

राजा हाथी के ऊपर बैठकर भगवान के दर्शन के लिए निकले।

बाजा बजाने वाले ने ढोल बजाया।

राजा के साथ हजारों नगरजन दर्शन करने के लिए जा रहे थे।

यह सब देखकर एक मेंढ़क के मन में भी ऐसा भाव आया कि मैं भी भगवान के दर्शन करने के लिए जाऊँ, इसलिए मुँह में एक फूल लेकर वह भगवान के दर्शन करने के लिए चला। भक्तिभाव से वह दौड़ता हुआ जा रहा था –

मेंढ़क मेंढ़क दौड़ा जाये, मुँह में फूल लेकर जाये।
वीर प्रभु के दर्शन को जाये, जिसे देखकर आनंद होते।
डग....डग....डबक....। टब....टब....टबक।

मेंढ़क भाई तो चले जा रहे थे, उसके हृदय में असीम आनंद उमड़ रहा था। पीछे से राजा श्रेणिक का हाथी भी चला आ रहा था। राजा हाथी पर बैठकर जा रहे थे और मेंढ़क भाई कूदता-कूदता जा रहा था....दोनों को भगवान के दर्शन की भावना थी, दोनों को भगवान के प्रति अपार श्रद्धा-भक्ति थी।

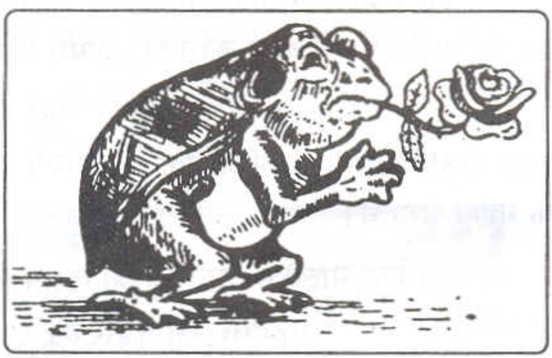

खुशी-खुशी मेंढ़क छलाँग मारते हुए जा रहा था। टब.... टब...टबक... डग... डग....डबक....।

उसको आस-पास का कोई भान नहीं था। एक ही धुन थी कि वीर प्रभु का दर्शन करूँ इतने में राजा के हाथी का पैर उसके ऊपर पड़

गया। अरे रे ! मेंढ़क के ऊपर हाथी का पाँव ! फिर वह कहाँ से बचे ?

मेंढ़क तो मर गया –

मेंढ़क-मेंढ़क दौड़ा जाये। वीर प्रभु की पूजा की जाये।

रास्ते में वह मर जाये। मर कर वह देव जाये।

मेंढ़क तो हाथी के पैर के नीचे दब गया और मर गया....परन्तु मरते-मरते भी भगवान की पूजा करने की भावना उसने छोड़ी नहीं, इसलिए इस भावना पूर्वक मरकर वह देव हुआ।

इधर राजा श्रेणिक वैभार-पर्वत पर महावीर प्रभु के समवसरण पहुँचे और भगवान की शोभा देखकर उन्हें अपार आनंद हुआ। अहा, भगवान की शोभा (वैभव) की क्या बात !! भगवान की सभा में गौतम गणधर और हजारों मुनि बैठे हैं, चंदना सती आदि छत्तीस हजार आर्यिकायें हैं, लाखों श्रावक श्राविकायें हैं और असंख्य देव-देवी हैं, सिंह और खरगोश, हाथी और हिरण, बंदर और बाघ, सर्प और मोर – ये सभी बैठे हैं और भगवान की वाणी सुन रहे हैं।

श्रेणिक राजा ने बहुत भक्ति से भगवान के दर्शन किए और क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया तथा तीर्थंकर नामकर्म बाँधा।

इसी समय आकाश में से एक देव उतरा और बहुत भक्ति भाव से भगवान के दर्शन करने लगा। उसके मुकुट में मेंढ़क का निशान था। उसे देखकर श्रेणिक राजा को बहुत आश्चर्य हुआ और उन्होंने भगवान से पूछा – "हे नाथ ! यह देव कौन है ?"

तब भगवान की वाणी में आया "ये तुम्हारी राजगृही नगरी के नागदत्त सेठ का जीव है, वह सेठ मरकर मेंढ़क हुआ। उसे अपना पूर्वभव याद आया और वह तुम्हारे साथ मुँह में फूल लेकर दर्शन करने के लिए आ रहा था, इसी बीच वह तुम्हारे हाथी के पैर के नीचे दबकर मर गया और मरकर देव हुआ। वहाँ अविधज्ञान से उसे याद आया कि भगवान के दर्शन-पूजन की भावना के प्रताप से मैं मेंढ़क से देव हुआ हूँ, इसलिए वह यहाँ आकर तुम्हारे ही साथ दर्शन-पूजन कर रहा है।

भगवान के श्रीमुख से यह बात सुनकर उस देव को बहुत हर्ष हुआ और भगवान के उपदेश को सुनकर उसने भी सम्यग्दर्शन प्राप्त किया।

प्रिय पाठको ! तुम भी मेंढ़क के समान भगवान की भक्ति-पूजा करके अपनी आत्मा को समझ लो और स्वर्ग-मोक्ष को पाओ।

("हे तीर्थपति ! तुम्हारे वंदन-ध्यान से मेंढ़क भी देव हो जाते हैं।)

जीवों ने अज्ञान से राग की भावना भाई है, परन्तु रत्नत्रय धर्म की भावना कभी नहीं भाई। भावना का अर्थ है परिणमन; राग में तन्मय होकर परिणमा परन्तु राग से भिन्न सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमन नहीं किया, इस कारण जीव संसार में रुल रहा है। – छहढाला प्रवचन भाग-१, पृष्ठ ४५

कहाँ हैं मेरा चिदानंद प्रभु ?

एक मुमुक्षु आत्मा को खोज रहा था, ज्ञानी महात्मा ने उसे समझाने के लिए दृष्टान्त दिया –

एक मनुष्य था, वह बैल के समान स्वाँग धारण करके पूछता है– "मैं मनुष्य किस प्रकार होऊँगा ?"

"भाई ! तू मनुष्य ही है, तू बैल नहीं। तू अपनी भाषा, अपनी चेष्टा, अपना रूप, अपना खान-पान आदि से देख कि तू मनुष्य ही है।"

उसीप्रकार उपयोगस्वरूप जीव पूछता है – "मैं उपयोगस्वरूप किस प्रकार होऊँगा ?"

"हे आत्मा ! तुम उपयोगस्वरूप ही हो, अन्य रूप नहीं। अपने प्रश्न करने की योग्यता से और अपनी जानने की चेष्टा से तू देख कि तू उपयोगस्वरूप ही है। विपरीत स्वाँग अर्थात् रागादि करना छोड़ दे तो स्वयमेव उपयोगस्वरूप हो जावेगा। अपने उपयोग को बाहर में मत खोज, अंतर में ही देख।"

उपयोगस्वरूप आत्मा प्रभु चिदानंद राजा को किस प्रकार प्राप्त करना चाहिये ?

प्रथम तो सर्व लौकिक संग से परांगमुख हो जा....और अपने विचार को चैतन्य राजा के सन्मुख कर....तीन प्रकार की कर्म-कंदरा रूप गुफाओं में तुम्हारा चैतन्य प्रभु छिपा बैठा है। शरीरादि नोकर्म, आठ द्रव्यकर्म और राग-द्वेष आदि भावकर्म – इन तीन गुफाओं को छोड़कर अंदर जाते ही तुम्हारा प्रभु तुम्हें अपने में दिखेगा....अर्थात् तू अपने को ही प्रभुरूप अनुभव करेगा।

संतों की यह बात सुनकर परिणति अपने प्रभु को खोजने के लिए खुशी एवं उत्साह से चली –

प्रथम नोकर्म की गुफा में बैठकर परिणति ने देखा....परन्तु चैतन्य राजा कहीं भी नहीं दिखा। फिर आवाज दी – "शरीर में कहीं चैतन्य प्रभु है ?" परन्तु किसी ने जबाव नहीं दिया।

परिणति के द्वारा नोकर्म के चक्कर लगाकर देखने पर भी कहीं चैतन्य प्रभु दिखाई नहीं दिया।

"यहाँ तो मेरा चैतन्य प्रभु नहीं है" – ऐसा समझकर वह पीछे हटी, लेकिन फिर भी परिणति चैतन्यप्रभु को खोजने में अत्यंत अधीर हो रही थी।

तब दयालु श्री गुरु ने पूछा – "तू किसे खोज रही है ?"

परिणति ने कहा – "मैं अपने चैतन्य प्रभु को खोज रही हूँ....परन्तु वह तो यहाँ नहीं मिला....इसलिए मैं वापिस जा रही हूँ।

श्रीगुरु ने कहा – "तू पीछे मत जा....तुम्हारा प्रभु यहीं है। यदि चैतन्य प्रभु विराजमान न होता तो इस जड़ शरीर को पंचेन्द्रिय जीव क्यों

कहते ? इसलिए इस देह गुफा के अंदर गहराई में तीन गुफाएँ हैं, वहाँ जाकर खोज....वहाँ तुम्हारा प्रभु विराजमान है। वह तुझे जरूर मिलेगा....उससे मिलकर तुझे महा आनंद होगा।''

उपकारी श्री गुरु के वचनों पर विश्वास करके धीरे-धीरे वह परिणति चैतन्य प्रभु को खोजने के लिए अंदर चली गयी और दूसरी द्रव्य कर्म गुफा में घुसकर देखा....वहाँ तो ज्ञानावरणादि कर्म दिखाई दिये, परन्तु चैतन्य प्रभु दिखाई नहीं दिया।

तब उसने चेतना से पूछा – ''कहाँ है मेरा चैतन्य प्रभु ?''

''हे परिणति सुनो ! इन जड़ कर्मों में जो क्रिया होती है, उसकी डोरी तुम्हारे चैतन्य प्रभु के हाथ में है, उसके हिलाने से वह हिलती है....तुम्हारे चैतन्यप्रभु के भाव अनुसार इन कर्मों में प्रदेश-प्रकृति स्थिति-अनुभाग बन्ध होते है। ज्ञानगुण धारक तुम्हारे चैतन्य प्रभु की सत्ता के प्रताप से इन पुद्‌गलों को ज्ञानावरण आदि नाम प्राप्त हैं।

तुम्हारे अंदर यदि चैतन्यप्रभु विराजमान न होता तो इन पुद्‌गलों को ''ज्ञानावरण'' आदि नाम कहाँ से मिलते ? इसलिए यह द्रव्यकर्म रूपी डोरी को पकड़कर जल्दी-जल्दी अंदर जा....इस डोरी को मत देख, परन्तु जिसके हाथ में यह डोरी है, उसे देख....अंदर और गहराई में तीसरी गुफा में जाकर खोज....।''

चैतन्य प्रभु से मिलने के लिए परिणति तीसरी भावकर्म गुफा में गयी....चैतन्य प्रभु के कुछ-कुछ चिन्ह उसे समझ में आने लगे....इस तीसरी गुफा में राग-द्वेषादि भावकर्म दिखाई दिये....।

तब चेतना से पुनः पूछा – ''इसमें मेरा चैतन्य प्रभु कहाँ है ?''

उस समय श्रीगुरु ने उसे चेतना-प्रकाश और राग-द्वेष के बीच भेदज्ञान कराने के लिए कहा –

''जो यह राग-द्वेष दिखाई दे रहे हैं तथा जिसके प्रकाश में दिखाई

दे रहे हैं, वह प्रकाश तुम्हारा चैतन्यप्रभु ही है। यह राग है, यह द्वेष है। इस प्रकार अज्ञान-अंधकार में वह कहाँ से जानने में आयेगा ? यह तो चैतन्य-प्रकाश में ही जानने में आता है और यह चैतन्य-प्रकाश जहाँ से आता है, वही तुम्हारा चैतन्यप्रभु है....राग से पार चैतन्य गुफा में तुम्हारा प्रभु विराज रहा है।''

उस चेतना ने राग से भिन्न होकर, जब चैतन्य गुफा में देखा, तब तो वह आश्चर्यचकित रह गई ''अहो ! चैतन्य-प्रकाश से जगमगाता, यह है मेरा चैतन्य प्रभु !!''

– ऐसा देखते ही वह अपने चैतन्य प्रभु को पाकर अपार आनंदित हुई। उसने अपने ही प्रभुस्वरूप का स्वानुभव किया।

हे आत्म-शोधक मुमुक्षुओ ! तुम भी बिना झिझक अपने चैतन्यप्रभु को खोजो....वह तुम्हें शीघ्र ही अवश्य मिलेगा....यह जो राग-द्वेष-मोह का जाल दिखाई देता है, वह उसी का प्रतिबिम्ब है....क्योंकि चैतन्य प्रभु के अस्तित्व बिना राग-द्वेष भाव संभव नहीं हैं। इसलिए जिन प्रदेशों में से ये राग-द्वेष-मोह उठे हैं, उन्हीं प्रदेशों में तुम्हारा चैतन्य प्रभु विराज रहा है....राग-द्वेष-मोह में मत अटक, परन्तु उस डोरी को पकड़। उसका छोर जिसके हाथ में है, उसके पास जा....वहीं तुम्हारा चैतन्य-प्रकाशी साक्षात् चैतन्य प्रभु विराजमान है....अब यह तुमसे छिपा नहीं रह सकता....चैतन्य गुफा में प्रभु प्रकट विराजमान है और अपनी अचिन्त्य अपार महिमा को धारण कर रहा है....उसको देखने से, मिलने से, अपार सुख होगा।

अहो ! मेरा चैतन्य प्रभु मुझे मिलेगा....फिर वह मुझसे जुदा नहीं होगा। – इसप्रकार चैतन्यप्रभु के साथ मिलन से मुझे अपार आनंद हुआ।

मेरो प्रभु नहिं दूर देशांतर, मोहि में है मोहि सूझत अन्दर।

भाव परिवर्तन की कला

(रौद्र रस से क्षणमात्र में शांत रस)

(जैन साहित्य में प्रसिद्ध दो कलाकारों की कहानियाँ अनेक प्रकार से सद्‌बोध देनेवाली हैं। अपने भावों का स्वतंत्र रूप से परिणमन करनेवाला जीव, हिंसा से अहिंसा, क्रोध से क्षमा, रौद्र रस से शांत रस या संसार से मुक्ति का महान परिवर्तन एक क्षणमात्र में करने की सामर्थ्य रखता है। उन भाव परिवर्तन करने वालों की ही ये कहानियाँ हैं।

पहली कहानी है – बहुरूपी ब्रह्मगुलाल की – जिसने सिंह का स्वाँग करने के बाद साधु का स्वाँग धारण करके निज कल्याण किया।

दूसरी कहानी है – सोनी कलाकार अंगारक की – जिसने अंगारे के समान क्रोध से पलटकर रत्नत्रय रूपी रत्नों के द्वारा आत्मा को अलंकृत किया।

दोनों कहानियों से हम सभी को अपने भाव परिवर्तन की सुन्दर कला सीखनी चाहिये।)

१. महान भावपरिवर्तक बहुरूपी ब्रह्मगुलाल –

प्रिय दर्शको ! केवल एक स्वाँग देखकर घबरा मत जाना। क्षणमात्र में वह स्वाँग बदलकर दूसरा सुन्दर स्वाँग हो सकता है। सिंह के रौद्र रूप के बाद जिसने मुनिदशा का शांत रस रूप सुन्दर स्वाँग धारण किया और इसप्रकार संसार का स्वाँग-छोड़कर मोक्ष-साधना का सुन्दर स्वाँग धारण किया। इस नाटक में एक जीव के दो स्वाँग बताये गये हैं।

एक था राजकुमार.... उसका एक मित्र कलाकार बहुरूपी था। विविध स्वाँग धारण करने में वह बहुत कुशल था। उसका नाम था ब्रह्मगुलाल।

एक बार राजकुमार के सामने विवाद उपस्थित हुआ, क्योंकि वह राजकुमार "ब्रह्मगुलाल" कलाकार की बहुत प्रशंसा करता था, परन्तु उसकी मित्र मण्डली को यह बात अच्छी नहीं लगती थी। मित्र कहते कि

तुम उसकी अनुचित प्रशंसा करते हो, उसकी कला साधारण श्रेणी की है, उसमें भाव परिवर्तन की स्वाभाविक शक्ति नहीं है, जो कला के विद्वानों को संतुष्ट कर सके।

राजकुमार उसकी कला को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करना चाहता था, उसे उसकी कला में एक विशेष आकर्षण दिखाई देता था, परन्तु उसके गुणद्रोही दुर्जन मित्रों को एक जैन कलाकार की प्रशंसा असहनीय थी, अत: वे उससे बहुत द्वेष रखते थे।

एक दिन की बात है जब राजंकुमार का एक सगा संबंधी आया, राजकुमार ने मुक्तकंठ से कलाविद् ब्रह्मगुलाल के भाव परिवर्तन की प्रशंसा की, तब उसकी प्रशंसा सुनकर राजकुमार के अन्य मित्र उत्तेजित हो गये और एक मित्र ने कहा –

"इसप्रकार का स्वाँग रच लेना यह तो एक साधारण नर का कार्य है। हाँ, यदि ब्रह्मगुलाल सचमुच में कलाकार है तो हम उसकी कला की परीक्षा की माँग करते हैं, जहाँ वह अपनी उच्च-कोटि की कला का परिचय दे।"

राजकुमार को तो ब्रह्मगुलाल की स्वाभाविक कला प्रदर्शन की शक्ति पर पूरा विश्वास था, उसने तुरन्त कहा –

"मित्रो, तुम खुशी से उसकी परीक्षा कर सकते हो। तुम जो भी स्वाँग उसे करने को कहोगे, वह तैयार है।"

मित्रों ने कहा –"आज तो हम उसको सिंह के रूप में ही देखना चाहते हैं।"

"आप उसे जिस रूप में देखना चाहते हो, उस रूप में देख सकते हो।" – दृढ़तापूर्वक राजकुमार ने स्वीकार किया।

दूसरे मित्र ने कहा – "मात्र भेष धारण कर लेना तो साधारण बात है, परन्तु उसमें सचमुच सिंह के समान पराक्रम और तेज होना चाहिये।"

राजकुमार ने जबाव दिया – "उसके लिए वह सब शक्य है।"

मित्र मण्डली अपने हृदय की भावना पूरी करना चाहती थी, जिसका आज उन्हें अवसर भी मिल गया था। उन्होंने मन ही मन प्रसन्न होते हुए कहा – "अब आयेगा मजा।"

राजकुमार ने उन सबको विश्वास दिलाया और ब्रह्मगुलाल के पास चला गया। (अरे रे, राजकुमार मित्र-मण्डली के प्रपंच में फंस गया)

(२)

नाट्यकला विशारद ब्रह्मगुलाल पद्मावती पोरवाल जाति का एक जैन युवक था, उसका जन्म विक्रम संवत् १६०० के लगभग टापानगर में हुआ था, टापानगर की राजधानी सुदेश थी। ब्रह्मगुलाल को बाल्यकाल से ही नाट्यकला से प्रेम था और अब युवा अवस्था में उसकी नाट्यकला का पूर्ण विकास हो चुका था। *(यह विवरण "जैनमित्र" में प्रकाशित लेख के अनुसार लिखा गया है।)*

राजकुमार की सभा में वह बारम्बार अपनी कला का प्रदर्शन करता था, भाव-परिवर्तन की अद्भुत कला पर राजकुमार और उसके कुछ मित्र मुग्ध थे। दर्शकों का हृदय अपनी ओर आकर्षित करने की उसमें अद्भुत् शक्ति थी, जो स्वाँग वह धारण करता, उसमें स्वाभाविकता का वास्तविक दर्शन होता था – ऐसा होने पर भी राजकुमार के कितने ही मित्र उससे प्रसन्न न थे, वे किसी भी प्रकार से उसे अपमानित करने का अवसर देख रहे थे। अब जब उन्हें यह अवसर मिल ही गया तो वे बहुत खुश हुए और उन्होंने उपरोक्त प्रकार से परीक्षा लेना निश्चित किया।

(३)

राजकुमार ने ब्रह्मगुलाल से कहा – "कलाविद् बंधु! आज तुम्हें अपनी कला को अच्छी तरह से दिखाना पड़ेगा, मेरी मित्र-मण्डली आज तुम्हारी परीक्षा करना चाहती है।"

ब्रह्मगुलाल यह रहस्यभरी बात सुनकर विचार में पड़ गये....वे इस बात का रहस्य खुलवाना चाहते थे.... ।अत: उन्होंने कहा –

"कुमार ! क्या अभी तक तुम्हारी मित्र-मण्डली हमारी परीक्षा नहीं कर पायी ? हमारी कला का प्रदर्शन तो यहाँ बहुत समय से हो रहा है। फिर आज यह नया विचार कैसा ?"

राजकुमार ने कहा –

"कलाविद् ! आज तुम्हें अपनी कला की परीक्षा देनी ही होगी, क्योंकि तुम्हारी प्रत्येक कला का प्रदर्शन महत्त्वपूर्ण और आकर्षक होता है। अत: आज तुम्हें पहले से अधिक अच्छा स्वाँग करना पड़ेगा।"

ब्रह्मगुलाल ने कहा – "आखिर यह तो बताओ....कि मेरी यह परीक्षा किस रूप में करवाना चाहते हो।"

राजकुमार ने बात स्पष्ट की कि "तुम सिंह का पराक्रम जानते हो, आज तुम्हें सिंह का स्वाँग बताना ही होगा।"

ब्रह्मगुलाल ने कहा – "यह सब कुछ हो सकता है, परन्तु....तुम्हें भी कुछ करना होगा।"

राजकुमार ने कहा – "मैं सब करूँगा, बताओ। ऐसा कौन-सा कठिन कार्य है – जो मेरे लिए असंभव हो ?"

ब्रह्मगुलाल ने गंभीरता से कहा –

"आपको महाराज के पास से एक प्राणी के वध की मंजूरी लाना होगी, उसके बाद आप अपनी रंगशाला में सिंह का पराक्रम देख सकेंगे।

"ठीक है, मैं तुम्हारी व्यवस्था करूँगा –

" यह कहकर राजकुमार ने स्वीकृति दे दी। (रे भवितव्य !)

(४)

राजकुमार नाट्यशाला में आज विशेष श्रृंगार करके आया था। राजकुमार स्वयं एक सुन्दर सिंहासन पर बैठा था, उसके आस-पास मित्र-मण्डली बैठी थी। नागरिक भी आज सभा-मण्डप में सिंह का वास्तविक स्वाँग देखने के लिए उत्सुकतापूर्वक आ रहे थे। थोड़ी देर में सभा-मण्डप खचाखच भर गया। राजकुमार के मित्रों की सूचना से एक बकरा मँगाकर सिंहासन के बाजू में ही बाँध दिया गया था।

उपस्थित जनता सिंह के असली स्वाँग को देखने के लिए आतुरता से प्रतीक्षा कर रही थी।

अचानक एक भयानक सिंह ने छलाँग मारकर सभा-मण्डप में प्रवेश किया। लोग उसे आश्चर्यचकित होकर देख रहे थे। वैसा ही रूप, वैसा ही भाव, वैसा ही तेज और वैसा ही पराक्रम था। सिंह का भयानक रूप देखकर सभासद थोड़ी देर तो स्तंभित ही रह गये। बालक इस सिंह का विकराल रूप देखकर भयभीत होकर भागने लगे, जबकि यह तो सिंह का सारा बनावटी स्वाँग था तो भी उसमें सिंह की सभी क्रूर चेष्टायें समाहित थीं। सिंह आकर राजकुमार के सामने तीव्र गर्जना करके थोड़ी देर तक खड़ा रहा।

सिंह की तीव्र गर्जना और भयानक रूप देखकर राजकुमार डरा नहीं, बल्कि उसने सिंह को वैसा का वैसा खड़ा देखकर उग्र स्वर में कहा–

"अरे ! तू कैसा सिंह है ? सामने बकरा बँधा है और तू इस प्रकार गधे के समान चेष्टा रहित खड़ा है। क्या यही सिंह का पराक्रम और शक्ति है ? नहीं, सचमुच तू सिंह नहीं, यदि तू सिंह होता तो क्या यह बकरा तेरे सामने इस प्रकार जीवित रह सकता था ?"

राजकुमार के शब्दों को सुनते ही....सिंह की आँखें लाल हो गयीं....और अपने पंजों को उठाकर वह कूदा....।

राजकुमार के मित्र इस दृश्य को देखकर प्रसन्न हुए। वे यह विचार करने लगे – "यह ब्रह्मगुलाल अहिंसापालक है, वह किसी प्रकार की हिंसा नहीं कर सकता, अत: सिंह का स्वाँग निभाने में जरूर निष्फल होगा और हमारी विजय होगी। यदि वह हिंसा का कार्य करेगा तो जैन समाज से तिरष्कृत होगा। अपने धर्म से विरुद्ध जाकर वह इस प्रदर्शन को जीव-हिंसा से नहीं रंग सकता।"

अभी वे इस प्रकार का विचार कर ही रहे हैं कि वहाँ तो....सिंह अपने पँजे उठाकर एक छलाँग में राजकुमार के सिंहासन के पास पहुँच गया....और....एक झटके में उसने अपने पंजों से राजकुमार को सिंहासन से नीचे पछाड़ दिया। चारों ओर से करुण चीत्कार के कारण नाटक का रंग मण्डप गूँज उठा। दर्शकों का हृदय किसी भयानक घटना की आशंका से काँप उठा....और....दूसरे ही क्षण दर्शकों ने देखा कि राजकुमार का मरा शरीर सिंहासन के नीचे पड़ा है। सिंह के तीव्र पंजों का आघात वह सहन नहीं कर सका और उसकी तत्काल मृत्यु हो गयी।

एक क्षण में नाट्य-मण्डप का दृश्य विषाद के रूप में बदल गया....आनंद के स्थान पर शोक छा गया। सिंह का काम समाप्त हो गया था। सिंह का स्वाँग पूरा करके ब्रह्मगुलाल अब अपने वास्तविक रूप में आ गया।

इस प्रकार विषाद की घनघोर छाया के साथ नाट्य-परिषद का कार्य पूरा हुआ।

(५)

महाराज ने राजकुमार की मृत्यु का समाचार सुना....परन्तु वे निरुपाय थे, क्योंकि ब्रह्मगुलाल को सिंह के स्वाँग के लिए एक प्राणी के वध की मंजूरी उन्होंने स्वयं दी थी। शोक के अलावा अब उनके पास कोई दूसरा उपाय नहीं था। हाँ, एक उपाय था और वह था वैराग्य का उपाय।

राजकुमार की अकालमृत्यु से राजा का हृदय अत्यन्त शोकमग्न था, वे प्रयत्न करने पर भी अपने दुःख को नहीं भुला पा रहे थे। ब्रह्मगुलाल के इस कृत्य से राजा का हृदय एक भयंकर विद्वेष से भर गया और वे किसी भी प्रकार उससे बदला लेना चाहते थे। बदला लेने के लिए उनका हृदय उत्तेजित हो रहा था और वह अवसर की राह देखने लगे, तभी एकाएक उनके मन में एक विचार आया।

एक दिन राजा ने ब्रह्मगुलाल को अपने पास बुलाकर कहा –

"कलाविद् ! सिंह का स्वाँग तो तुमने बहुत सफलतापूर्वक किया....तुम्हारे रौद्र रूप का दर्शन तो हो चुका। अब मैं तुम्हारे शांत रूप का दर्शन करना चाहता हूँ....तुम दिगम्बर साधु का स्वाँग धारण करके मुझे वैराग्य का उपदेश दो....जिससे पुत्र-शोक से संतापित मेरे हृदय में शांति हो।"

महाराज की यह आज्ञा रहस्यपूर्ण थी। उसे सुनकर ब्रह्मगुलाल विचार में पड़ गया....परन्तु दूसरे ही क्षण निर्णय करके उसने कहा –

"महाराज ! आपकी आज्ञा मान्य है, परन्तु आपको थोड़ा समय देना होगा।"

अपने मन की इच्छा पूरी होती देख राजा प्रसन्न हुआ और उसने कहा – "ठीक है, जितना समय तुम्हें चाहिये उतना ले सकते हो; परन्तु साधु का अच्छे से अच्छा ऊँचे से ऊँचा उपदेश देकर तुम्हें मेरे शोक-संतप्त हृदय को शांत करना होगा।"

'अवश्य' – ऐसा कहकर ब्रह्मगुलाल अपने घर चला गया।

(६)

महाराज की आज्ञानुसार साधुपने का स्वाँग धारण करने के लिए ब्रह्मगुलाल ने निश्चय कर लिया था, परन्तु कार्य कठिन था। इसमें पूरे जीवन की बाजी लगानी थी, क्योंकि वह जानता था कि जैन साधुओं का

पवित्र स्वाँग मात्र देखने के लिए नहीं होता। एक बार जिसने धारण किया, उसके बाद फिर गृहस्थ नहीं होता। साधु का स्वाँग धारण करना कोई मजाक नहीं है, उसके अन्दर एक महान आत्मभावना समाहित होती है।

ऐसे साधु का स्वाँग धारण करने के लिए पहले उसने दृढ़ होकर वैराग्य भावनाओं का चिंतन किया और अपने हृदय को संसार से विरक्त बना लिया। उसका पूरा समय, आत्म-चिंतन और आत्म भावनाओं में ही बीतने लगा। वह विरक्ति को वास्तविक रूप देना चाहता था। स्व-पर के भेद-विज्ञान रूप तत्त्वाभ्यास सहित उसने संसार विरक्ति के जोरदार अभ्यास में प्रवीणता प्राप्त कर ली। उसके अन्तर में उत्साह तो था ही कि अहो ! साधुदशा का सुंदर अवसर आया है। संसार के पाप स्वाँग तो बहुत धारण किये, अब धर्म का सच्चा स्वाँग करने का धन्य अवसर आया है।

ऐसी धर्मभावनापूर्वक थोड़े समय में उसने अपने अंतर में पूर्ण विरक्ति जागृत कर ली....और अब वह गृहजाल का बंधन तोड़ने में समर्थ हो गया था। सम्यक्त्व और आत्मज्ञान के प्रकाश से उसकी आत्मा जागृत हो गई, वासना की बेड़ियाँ टूट गयीं। हृदय शांत रस से भीग गया था। उनके जीवन में अचानक आये परिवर्तन को देखकर परिवारजन आश्चर्यचकित रह गये।

वैराग्य से भरपूर साधु स्वाँग में प्रवेश करने की पूर्ण तैयारी करने के बाद ब्रह्मगुलाल ने अपने माता-पिता और पत्नि के पास जाकर सारा रहस्य प्रकट किया और साधु होने के लिए मंजूरी माँगी।

वे सभी तो बहुत मोहासक्त थे....ब्रह्मगुलाल के वैराग्य की बात सुनकर उनका मोह उमड़ पड़ा और उन्होंने एक बार तो ब्रह्मगुलाल को पुन: मोहसागर में ले जाने का प्रयत्न किया, परन्तु उसने तो अपने आत्मा को मोहसागर से बहुत ऊँचा उठा लिया था, अब मोह की लहरें उसे स्पर्श नहीं कर सकती थीं। अपने पवित्र भावनात्मक उपदेश के द्वारा उसने अपने

माता-पिता और पत्नि के हृदय के मोहजाल को तोड़ दिया और उज्ज्वल भावनाओं सहित सच्चा मुनिवेश धारण करने हेतु श्री ब्रह्मगुलालजी वन की ओर चले गये।

जंगल में जाकर उन्होंने अपने सभी वस्त्र उतार दिये और दिगम्बर होकर एक स्वच्छ शिला के ऊपर पद्मासन होकर बैठ गये, फिर उन्होंने अपने हृदय की उत्कृष्ट भावना पूर्वक श्री पंचपरमेष्ठी भगवंतों को नमस्कार करके, स्वयं साधु दीक्षा ग्रहण की....और आत्मध्यान में लीन हो गये।

संसार-नाटक के अनेक स्वाँगों को धारण करने वाला कलाविद् एक क्षण में आत्मकला का उपासक बन गया....अब उनका हृदय आत्मज्ञान और शांत रस से भरपूर था, उन्हें न कोई इच्छा थी और न कोई कामना थी। संसार-नाटक का स्वाँग पूरा करके अब उन्होंने मुक्तिसाधक मुनिदशा का स्वाँग शुरु किया था। रौद्ररस रूप से भाव-परिवर्तन करके आत्मा को शांतरस रूप किया था। धन्य है! भाव-परिवर्तन की कला !!

(७)

प्रभात का सुंदर समय है। महाराज अपने सिंहासन पर विराजमान है....सभासद भी बैठे हैं....इसी समय जिन्होंने प्राणीमात्र के ऊपर समभाव धारण किया है और जो शांत रस में मग्न हैं ऐसे साधु ब्रह्मगुलालजी राजभवन की ओर आते दिखे। राजा ने दूर से ही साधु के पवित्र वेष को देखा, तुरन्त ही उठकर साधु को आमंत्रित किया। उन्हें उच्च आसन पर विराजमान किया और धर्मोपदेश सुनने की इच्छा व्यक्त की। मुनिराज ब्रह्मगुलालजी ने पवित्र आत्मतत्त्व का विवेचन किया।

"राजन्! आत्मतत्त्व में अनंत शक्तियाँ हैं, क्षणमात्र में अपने भावों का परिवर्तन करके पामर से परमात्मा बन जाने की तुममें ताकत है, इसलिए शोकभाव छोड़कर शांत भाव प्रगट करो।"

मुनिराज ब्रह्मगुलालजी का ऐसा दिव्य उपदेश सुनकर महाराज के

हृदय का शोक नष्ट हो गया, उनके मन का पाप धुल गया, अंतर में द्वेष की ज्वाला शांत हो गयी। ब्रह्मगुलालजी के पवित्र व्यक्तित्व पर आज पहले ही दिन से महाराज को अनन्य श्रद्धा हो गयी। हर्षित हृदय से उन्होंने कहा –

"ब्रह्मगुलालजी आपने महात्मा के कार्य को जैसा का तैसा पालन किया है, साधु-स्वाँग धारण करके आपने हमारे मन से शोक मिटा दिया है। मैं आपके इस साधु-स्वाँग को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ हूँ, इसलिए आप इच्छित वरदान माँगो; अब जो आप माँगोगे, वह मैं देने के लिए तैयार हूँ।"

ब्रह्मगुलालजी को साधु-स्वाँग से भ्रष्ट करने के लिए प्रलोभन के रूप में यह एक जाल फेंका गया था, परन्तु वे इसमें नहीं फँसे, वे बोले–

"राजन् ! आप एक दिगम्बर साधु के सामने ऐसे अनुचित शब्दों का प्रयोग क्यों कर रहे हैं ? क्या आप नहीं जानते कि जैन साधुओं को राज्य-वैभव की इच्छा नहीं होती। उन्हें अपने आत्मवैभव के साम्राज्य के सामने संसार के वैभव की लेशमात्र इच्छा नहीं है।"

"हे नरेश्वर ! ममता के सभी बंधनों को मैंने तोड़ दिया है, अब मैं निर्ग्रन्थ जैन साधु हूँ और आपके पास से मुझे किसी भी वस्तु की अभिलाषा नहीं है। मैं तो मुक्तिपथ का पथिक हूँ, पूर्ण स्वतन्त्रता हमारा ध्येय है, आत्मध्यान मेरी संपत्ति है, अपनी संपत्ति से मैं संतुष्ट हूँ। इसके अलावा मैं और कुछ नहीं चाहता।"

ब्रह्मगुलालजी की एक बार और परीक्षा करने के लिए राजा ने कहा – "परन्तु आपने यह साधुवेष तो सिर्फ स्वाँग के लिए ही ग्रहण किया है और यह तो मेरी इच्छा पूरी करने के लिए ही किया था, जिससे उसमें कोई वास्तविकता नहीं होनी चाहिये। तुम्हारे स्वाँग का कार्य पूरा हुआ, अब तुम्हें यह स्वाँग बदल लेना चाहिये और इच्छित वैभव प्राप्त करके तुम्हें अपना जीवन सुखमय व्यतीत करना चाहिये।"

जिनके हृदय में समतारस का सिन्धु उछल रहा हो – ऐसे ब्रह्मगुलालजी ने हृदय की दृढ़ता व्यक्त करते हुए कहा –

"राजन् ! साधु का वेष स्वाँग के लिए नहीं लिया जाता, मुनि दीक्षा ये मात्र स्वाँग करने जैसी वस्तु नहीं है, इसमें तो जीवनपर्यंत के ज्ञान और वैराग्य की साधना होती है। मैं सांसारिक वैभव का त्याग कर चुका हूँ। जिससे वे मेरे लिए उच्छिष्ट के समान हैं। विवेकी जन उच्छिष्ट वस्तु का पुनः ग्रहण नहीं करते। मैं अब मात्र स्वाँगधारी साधु नहीं, मेरी अन्तरात्मा वास्तविक साधु होकर आत्म-साधना में रम रही है, जिसमें अब राज्य-वैभव के प्रलोभन के लिए कोई स्थान नहीं। मेरी वासना मर गई है और अब मैं अपने साधुपद के कर्तव्य में स्थिर हूँ। अब मैं अपने आत्मकल्याण के स्वतंत्र मार्ग पर ही विचरण करूँगा और जगत को दिव्य आत्मधर्म का संदेश सुनाऊँगा। आप मेरे मन को विचलित करने का निष्फल प्रयत्न न करें।"

मुनिराज ब्रह्मगुलालजी की वैराग्य से ओतप्रोत वाणी सुनकर राजा आश्चर्यचकित होकर उन्हें देखता रहा – तभी ब्रह्मगुलाल मुनिराज खड़े हुए....और अपनी पीछी-कमंडलु लेकर मंद-मंद गति से जंगल की ओर चले गये।

(८)

(नोट – कथा के भावों को स्पष्ट करने के लिए और कथा को विशेष प्रभावी बनाने के उद्देश्य से आगे का कथानक लेखक द्वारा लिखा गया है।)

मुनिराज ब्रह्मगुलालजी वन में एक वृक्ष के नीचे चैतन्य के ध्यान में लीन हैं। अनादि से धारण किये आर्त्त-रौद्र ध्यान रूप स्वाँगों को छोड़कर उन्होंने परम उपशांत भाव रूप अपूर्व स्वाँग को धारण किया है – अहा ! अपूर्व शांत मुद्रा में मुनिराज सुशोभित हो रहे हैं।

इतने में एक सिंह छलाँग लगाकर उनके ऊपर झपटा....यह सिंह वही जीव था जो पहले राजकुमार था तथा सिंह का वेष धारण करके ब्रह्मगुलालजी ने जिसके ऊपर धावा बोला था....वह राजकुमार का जीव मरकर सिंह हुआ था। वह ब्रह्मगुलाल मुनि के ऊपर जैसे ही धावा बोलने वाला था, तभी वह उनकी धीर-गंभीर-उपशांत मुद्रा देखकर रुक गया, उसे ऐसा लगा कि यह मुद्रा कहीं देखी है। तुरन्त उसे जातिस्मरण हुआ, "अरे, यह तो वही कलाकार ब्रह्मगुलाल ! मेरा मित्र ! जिसने सिंह के वेष में मुझे मार डाला था, अभी वह कैसा शांत स्थिर हो गया है। अरे, अब तो वह मुनि हो गया है। अहो, कहाँ सिंह का स्वाँग ! और कहाँ मुनिराज का स्वाँग ! कहाँ क्रूर हिंसकभाव !! और कहाँ यह परम शांतभाव !! जीव अपने परिणामों को कैसे पलट सकता है। अभी मैं (सिंह/राजकुमार) इनके ऊपर हमला करने के लिए तैयार हुआ था, फिर भी ये तो अपने आत्मध्यान में अडिग हैं। इनका सिंहपने का स्वाँग भी कितना सच्चा था और अभी मुनिपने का चरित्र भी कितना सच्चा है। वाह ! कैसा भाव-परिवर्तन !! सम्यक् भाव-परिवर्तन करने वाला यह कलाविद् सचमुच वंदनीय है।"

– ऐसा विचार करके वह सिंह उन्हें वंदन करने लगा। ठीक उसी समय ब्रह्मगुलाल मुनिराज की दृष्टि उसके ऊपर पड़ी। दृष्टि पड़ते ही सिंह के भाव-परिवर्तन का उसे ख्याल आ गया, इसलिए करुणा से सिंह को संबोधने लगे –

"अरे सिंह ! अरे राजकुमार !! देखो....देखो....यह भाव-परिवर्तन की कला। प्रत्येक जीव अपने भावों को क्षणमात्र में परिवर्तन करने की ताकत रखता है। अनादि संसार में यह जीव अनेक स्वाँग धारण कर चुका है, परन्तु वे सभी उसने क्रूर भावना के स्वाँग धारण किये है, शांत भाव के स्वाँग कभी धारण नहीं किये। आर्त्त-रौद्र ध्यान के द्वारा संसार के स्वाँग ही धारण करता है। यदि आत्मध्यान के द्वारा एक बार भी मोक्ष का

स्वाँग धारण करे तो जीव को दूसरा कोई स्वाँग धारण न करना पड़े। कहाँ तो तुम्हारा राजकुमार का स्वाँग और कहाँ ये सिंह का स्वाँग....। ये दोनों स्वाँग क्षणिक हैं, तुम्हारी काया का मूल स्वाँग तो सिद्धपद है। हे जीव! इसे तू संभाल !!"

श्रीमुनिराज का उपदेश सुनकर सिंह आनंदित हुआ, उसके भावों में भी अपूर्व परिवर्तन हुआ और आनंद की अश्रुधारा से मुनि के चरणों का प्रक्षालन करने लगा। इसी समय अचानक राजा वहाँ से निकले और वहाँ का आश्चर्यकारी दृश्य देखकर वहाँ रुक गये और श्री ब्रह्मगुलालजी मुनिराज से पूछा – "हे स्वामी ! यह सिंह आपके पास चरणों में क्यों शांत हो गया है ? और मुझे इसके प्रति वात्सल्य की भावना क्यों उत्पन्न हो रही है।"

ब्रह्मगुलालजी मुनि ने कहा – "सुनो, राजन् ! यह सिंह अन्य कोई नहीं, परन्तु तुम्हारा पुत्र ही है। मेरे सिंह के स्वाँग के समय तुम्हारे जिस राजकुमार की मृत्यु हुई थी, वही राजकुमार सिंह रूप में जन्मा है। वह राजकुमार का क्षणिक स्वाँग था और अब यह सिंह का स्वाँग भी क्षणिक है। सिद्धपद रूपी स्वाँग तो जीव का/चैतन्य का स्थिर स्वाँग है। इसलिए हे राजन् ! पुत्रवियोग के शोक को छोड़कर सिद्धपद का उपाय करो।"

"यह सिंह मेरा ही पुत्र है" – ऐसा जानते ही राजा अतिस्नेह से उससे मिलने लगा, तब फिर मुनिराज ने कहा – "अरे राजन् ! विभाव के क्षणिक स्वाँग में मोह कैसा ? तुम्हारा यह राजापना भी क्षणिक है। पिता-पुत्र का संबंध भी क्षणिक है। छोड़ो अब तो छोड़ो ! इस क्षणिक स्वाँग के मोह को !!"

बस, राजा के विवेकचक्षु खुल गये – "अरे, कहाँ वह सिंह और कहाँ ये साधु ? कहाँ वह राजपुत्र और कहाँ यह सिंह ? अरे ! संसार में भ्रमण करके मैंने अनेक स्वाँग धारण किये और भ्रम से उन-उन स्वाँग को

अपना असली स्वरूप मान बैठा, परन्तु नहीं रे नहीं। ये कोई भी स्वाँग मेरा स्वरूप नहीं है। ये तो सभी क्षणिक विभाव के स्वाँग थे। वे तो छूट गये अब मैं अपने सिद्धपदरूपी अविनाशी स्वाभाविक स्वाँग के लिए उद्यम करूँ" – ऐसा विचार कर राजा भी अपने भावों का सम्यक् परिवर्तन करके मुनि हुए और सिद्धपद के साधक बने। इस प्रकार, ब्रह्मगुलाल कलाकार, राजकुमार और राजा – इन तीनों का जीवन सम्यक् भाव-परिवर्तन का अद्भुत दृष्टान्त है।

इसी प्रकार हे पाठको ! तुम भी अपने भावों में सम्यक् परिवर्तन करो और आत्मा को मोक्षसाधना में लगाओ।

पुराणों में भी जहाँ देखो वहीं पवित्र पुरुषों के जीवन-चरित्रों में भाव-परिवर्तन का ही उपदेश दिया जाता है। हे जीव ! तुम्हारे भावों में परिवर्तन की शक्ति है, क्योंकि आत्मा परिवर्तनशील है, सर्वथा कूटस्थ नहीं, इसलिए महापुरुषों के उदाहरण द्वारा अनादि से सेवन किए मिथ्या भावों का परिवर्तन करके सम्यक्त्व प्रकट कर....अनादि संसार में मिथ्यात्व के अनंत प्रकार के अनन्त स्वाँग धारण किये।

अब तो सम्यक्त्व का अपूर्व स्वाँग सजाओ।

देखो ! भगवान महावीर का जीवन ! वे भी एक समय सिंह के स्वाँग में थे और हिरण को मारकर माँस खा रहे थे। वे अपने भावों का परिवर्तन करके रौद्रभाव में से शांतभाव रूप होकर, त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर हुए। इस प्रकार के उदाहरणों से हे जीव ! तू भी अपने भावों का सम्यक् भाव परिवर्तन कर।

मिथ्यात्व से जीव स्वयं ही अपना शत्रु है और सम्यक्त्व से जीव स्वयं ही अपना मित्र है। जीव स्वयं अपने ही सम्यक् या मिथ्याभावों के अनुसार सुखी या दुःखी होता है, कोई दूसरा उसे सुखी-दुःखी नहीं करता।

– छहढाला प्रवचन भाग-१, पृष्ठ ५९

२. कलाकार अंगारक की कथा –

(जिसने अपनी आत्मा रूपी आभूषण में सम्यक् रत्नों को जड़कर सच्ची कला प्रकट की, ज्ञानकला प्रकट की – ऐसे महान कलाकार की कथा।)

कौशाम्बी नगरी में प्रसिद्ध एक कलाकार था, उसका नाम अंगारक था, वह अत्यन्त कुशल कलाकार था, साथ ही साथ वह धर्म का प्रेमी और उदार भी था। कला के साथ इन दो गुणों के कारण उसकी प्रतिष्ठा में चार चाँद लग गये थे। उसका मुख्यत: कार्य आभूषणों में कीमती हीरे-माणिक-मोती जड़ना था और अपने इस कार्य में वह अत्यधिक दक्ष था। कीमती रत्नों से तो वह अपने जीवन को अनेक बार अलंकृत कर चुका था, परन्तु रत्नत्रय रूपी रत्नों से अपने आत्मा को अभी तक अलंकृत नहीं कर सका था।

आज कलाकार का निवास स्थान पद्मरागमणि की रक्तप्रभा (लाल किरणों) से जगमग-जगमग हो रहा था। उस पद्ममणि के सामने नजर जमाकर वह विचार कर रहा था।

"इस कीमती मणि को आभूषण में किस प्रकार जड़ना, क्योंकि यह कोई साधारण रत्न नहीं है। यह तो कौशाम्बी के महाराज गंधर्वसेन के आभूषण में जड़ने के लिए आया महामूल्यवान पद्मरागमणि है। मेरी कला पर विश्वास करके महाराज ने यह काम मुझे सौंपा है। अत: आभूषण में वह इस प्रकार जड़ा जाये कि उसकी शोभा एकदम खिल उठे।"

इस विचार से कलाकार उस पद्ममणि को क्षण में आभूषण के इस तरफ, क्षण में उस तरफ और क्षण में बीच में जोड़कर देखता – इस प्रकार घुमाते-घुमाते बहुत परिश्रम के बाद जब उसके मनपसंद स्थान पर वह मणि शोभित हो गया, तब उसकी शोभा देखकर उसका मन हर्ष से गद्‌गद् हो गया –

"वाह ! मेरी कला का यह एक सर्वोत्तम नमूना बनेगा और महाराज भी इसे देखकर अत्यन्त प्रसन्न होंगे।"

इस प्रकार संतोष की श्वाँस लेकर जब उसने अपना मस्तक ऊपर उठाया तो देखता क्या है कि उसके घर के आंगन के सामने से एक नग्न दिगम्बर मुनिराज गमन कर रहे हैं।

"मानो उनकी आँखों से परम शान्त रस की वर्षा हो रही हो....मानो उनकी भव्यमुद्रा पर वीतरागता छा गई हो....मानो उनके समस्त पाप गल गये हों....अहो ! उनके आत्मा की पवित्रता की क्या बात कहना ? अरे, उनके तो चरणों से स्पर्शित धूल भी इतनी पवित्र है कि असाध्य रोगों को दूर कर दे। उनके दर्शन मात्र से मानवों का मन पवित्र हो जाता है और उनके हृदय का पाप धुल जाता है। इन रत्नत्रय धारक योगीराज के आत्मतेज के सामने इस पद्मरागमणि का तेज भी फीका लग रहा है।"

ऐसे चारणऋद्धिधारी महा मुनिराज गोचरीवृत्ति से आहारदान हेतु गमन कर रहे हैं....उन्हें देखकर अंगारक शीघ्र ही उनके समीप गया और उनके चरण-कमलों पर झुक गया....तथा अनायास ही उसके मुख से उद्गार निकलने लगे –

"अहो ! आज मेरे भाग्य खिल उठे....आज मैं कृतार्थ हो गया....हे प्रभु ! हे मुनिराज ! आपके चरण-कमलों की धूल से आज मैं पावन हो गया....मेरा घर भी पवित्र हो गया....मेरे भव-भव के पाप नष्ट हो गये। हे नाथ ! पधारो....पधारो....पधारो....।"

इस प्रकार मुनिराज का पड़गाहन करके नवधाभक्तिपूर्वक अंगारक ने आहारदान दिया आहारदान के समय मुनि-भक्ति में वह इतना तल्लीन था कि घर में इस बीच क्या घटना घट गई, उसे कुछ पता न चला। आहार के बाद महामुनिराज तो वापस वन में चले गये और आत्मध्यान में लीन हो गये। ऐसे महान पवित्रात्मा शुद्धोपयोगी, साधुशिरोमणि को आहार देने से आज अंगारक कृतार्थ हो गया था....उसका चित्त अत्यन्त प्रसन्न था।

आहारदान के बाद वह कलाकार आभूषण में पद्मरागमणि को जोड़ने हेतु जब वापस आया तो क्या देखता है – अरे ! यह क्या हुआ ? पद्मरागमणि गुम ! नहीं....नहीं....ऐसा नहीं हो सकता। उसने पूरा घर छान मारा, परन्तु पद्मरागमणि नहीं मिला, अत: उसकी आँखों के सामने अंधेरा छा गया....उसका दिमाग मानो चक्कर खाने लगा....अरे ! परन्तु इतनी-सी देर में यह पद्मरागमणि गया कहाँ ? क्या उसके पंख लग गये थे, जो वह उड़ गया ? क्या कोई उसे चोरी करके ले गया ? नहीं....यहाँ घर में मुनिराज के अलावा तो कोई आया ही नहीं....फिर यह मणि गया तो गया कहाँ ? उसकी कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि यह मणि एकाएक कहाँ गुम गया।

मणि के गुम हो जाने से अंगारक व्याकुल होकर घर में यहाँ-वहाँ घूमने लगा....कुछ समय पूर्व मणि के तेज से जगमगाते उसके घर में अब अंधकार छा गया था....मानो पृथ्वी काँपने लगी थी....मणि के चले जाने से मानो उसकी अपनी प्रतिष्ठा भी चली गई – ऐसा उसे लगा। उसे चिन्ता हो रही थी कि अब महाराज को क्या जवाब दूँगा? हे भगवान अब क्या होगा ? निराशा से घिरा हुआ वह एकाएक क्रोध से लाल-पीला हो गया। बस, चाहे जो हो जाये; परन्तु वह मणि का पता लगाकर ही रहेगा। तब उसके मन में ऐसा खोटा विचार आया –

''अरे ! अभी-अभी ज्ञानसागर मुनिराज को आहारदान देने के समय मणि को इस पेटी पर रखा था....और वे मुनिराज आहार करके वापस जाते हैं और मणि गुम जाता है। इस बीच उनके अलावा अन्य कोई व्यक्ति मेरे घर में आया ही नहीं....इसलिए....? इसलिए....हो न हो, जरूर मुनिराज का ही इसमें हाथ होना चाहिये ? बस ! निर्णय हो गया !!''

– यह विचार आते ही जिन योगीराज के प्रति एकक्षण पहले उसको अत्यन्त भक्ति और श्रद्धा का अगाध दरिया उछल रहा था, अब उन्हीं मुनिराज के प्रति भयंकर क्रोध से अंगारक अंगारे से समान बन गया।

"जरूर वे मुनिराज नहीं थे, बल्कि मुनि के वेष में कोई चोर होंगे....उन ढोंगी का ही यह काम लगता है।"

फिर भी अभी-अभी देखी उन वीतरागी मुनिराज की भव्यमुद्रा और हृदय में विद्यमान जैन धर्म के प्रति अतिशय भक्ति इन दोनों के कारण कलाकार के अन्तरंग से आवाज आई –

"अरे अंगारक ! यह क्या ? क्या तू पागल हो गया है ? जिन्होंने इन्द्रतुल्य वैभव को छोड़ दिया....और संसार को तृणतुल्य जानकर उसका त्याग कर दिया। जगत के पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि को छोड़कर जो बहुत आगे बढ़ गये हैं – क्या वे महामुनिराज तेरा पत्थर का टुकड़ा चुरायेंगे ? सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक् चारित्र ऐसे विश्व वंद्य रत्नों से जिनका आत्मा शोभायमान है, क्या वे इस जड़ रत्न पर मोहित होंगे ? अरे, जिन्होंने स्वात्मा में स्थित चैतन्य मणि प्राप्त कर लिया है, वे इस अचेतन मणि का क्या करेंगे ?"

क्षणमात्र के लिए तो उसे यह विचार आया, परन्तु जब मणि का ध्यान आया तो फिर उसके चित्त में प्रश्न उठा –

"यदि मुनिराज ने उसे नहीं चुराया तो वह गया कहाँ ?"

मणि के मोह में पागलवत् होकर उसने अन्त में यही निश्चय किया– "नहिं....नहिं....वे कोई मुनि नहीं, अपितु मायावी हैं और उनका ही यह काला काम है। इस ठग मायावी ने मंत्रादिक के प्रभाव से मणि चुराकर कहीं छिपा दिया होगा....परन्तु मुझसे बचकर वह कहाँ जायेगा ? मुनिवेष में रहकर ऐसे काम करता है – उसे तो मैं ऐसी शिक्षा दूँगा कि जिन्दगी भर याद रखेगा। चाहे जहाँ हो, मैं उसे पकड़कर लाऊँगा।" – ऐसा दृढ़ निश्चय करके वह क्रोध से अत्यन्त उत्तेजित होकर मुनि को खोजने के लिए उपवन की ओर तीव्र गति से बढ़ा।

उधर एकान्त शान्त उपवन में श्री ज्ञानसागर महाराज आत्मध्यान

में निमग्न हैं। वे जगत के मायाजाल से बहुत दूर....संसार के विषय वातावरण से पार....और मानो परम शान्त अनन्त सुखमय सिद्ध भगवन्तों के एकदम पास रह रहे हैं....अनन्त सुखमय आत्मा के ध्यान में वे पूरे के पूरे एकाग्र होते जा रहे हैं।

तभी क्रोध से आगबबूला होता हुआ अंगारक हाथ में लाठी लेकर मुनिराज को ढूँढ़ने दौड़ता हुआ आ रहा है....ध्यानस्थ मुनिराज को दूर से देखते ही वह गरजा – "अरे पाखण्डी ! जल्दी बोल !! बता, मेरा मणि कहाँ है ?"

परन्तु जवाब कौन देवे ? मुनिराज तो ध्यानस्थ हैं। यद्यपि वे मुनिराज अवधिज्ञानी थे, तथापि स्वरूप से बाहर आकर अवधिज्ञान का जब उपयोग करें, तब बतावें न; लेकिन वे तो आत्मसाधना में लीन थे, उन्हें मौन देखकर अंगारक का क्रोध और अधिक बढ़ गया।

उसने कहा – "अरे धूर्त ! दिन-दहाड़े चोरी करके अब ढोंग करता है। तू यह मत समझना कि मैं तुझे ऐसे ही छोड़ दूँगा। जल्दी बता! कहाँ है मेरा मणि ?"

परन्तु यहाँ वीतरागी मुनिराज की क्षमारूपी ढाल के सामने क्रूरवचन रूपी बाण कोई असर नहीं कर सके....मुनिराज तो अडिग ध्यानस्थ ही थे।

जब अंगारक ने देखा कि उसके क्रूर वचनों का भी मुनिराज पर कोई असर नहीं हो रहा है तो उसने सोचा कि जरूर उन्होंने ही मेरा मणि कहीं छिपा दिया है....इसीलिये तो मौन हैं।

"बोल ! सीधे-सीधे मेरा मणि देता है या नहीं ?....या....इसका स्वाद चखाऊँ" – ऐसा कहकर उसने मुनिराज पर वार करने के लिए लाठी उठाई।

अरे ! कुछ समय पूर्व ही जिनके पावन चरणों में जो श्रद्धापूर्वक

अपना सिर झुका रहा था, उनके ही सिर पर अब वह प्रहार करने को तैयार हो गया....हाय ! जीव के परिणामों की कितनी विचित्रता है। भावों का कैसा परिवर्तन ?

मुनिराज तो नहीं बोले....तो नहीं ही बोले....ध्यान से नहीं डिगे....तो नहीं ही डिगे। जब अंगारक ने मारने के लिए लकड़ी ऊपर उठाई और उसे नीचे किया ही था कि....वह लकड़ी उन तक पहुँचने से पहले ही डाल पर बैठे मोर में पर लगी और तभी करुण चीत्कार के साथ मोर के कण्ठ में से कोई चमकीली-सी वस्तु जमीन पर गिर पड़ी.... अरे ! यह क्या ? यह तो वही पद्मरागमणि है। उसी के लाल-लाल प्रकाश से पृथ्वी जगमगाने लगी है....मानो मुनिराज की रक्षा होने से....उनका उपसर्ग दूर होने की खुशी में आनन्द से हँस रही हो।

अंगारक तो इस मणि को देखकर आश्चर्यचकित ही रह गया था...उसकी आँखों के सामने फिर से अंधेरा छा गया था....लकड़ी हाथ में ही रह गई....और धड़ाम से वह मुनिराज के चरणों में गिर पड़ा। पद्मरागमणि के गुम हो जाने का रहस्य अब एकदम स्पष्ट हो गया था और यह कलाकार अपने अविचारी कृत्य के कारण पश्चाताप के सागर में अचेत होकर पड़ा था....ध्यानस्थ मुनिराज को तो बाहर क्या हो रहा है ? इसकी खबर ही कहाँ है ?

श्रीमुनिराज ने णमो सिद्धाणं कहकर जब ध्यान पूरा किया और आँखे खोलीं....तब देखा कि कुछ समय पूर्व (आहारदान के समय) का यह अंगारक यहाँ चरणों में पश्चाताप के कारण सिसक....सिसक कर रो रहा है....एक तरफ पद्ममणि धूल में धूल-धूसरित पड़ा है....थोड़ी दूर पर लकड़ी पड़ी है....ऊपर डाल पर बैठा मोर मणि की ओर टकटकी लगाकर देख रहा है....श्री मुनिराज को सारी परिस्थिति समझते देर नहीं लगी....उन्होंने अंगारक को आश्वासन देते हुए महा करुणार्द्र होकर कहा –

"वत्स अंगारक ! दु:खी मत हो। सोच-विचार छोड़ दे। इज्जत और लक्ष्मी का मोह ऐसा ही है, जो जीव को अविचारी बना देता है। वत्स अंगारक ! जो होना था, सो हो गया....अब शोक करना छोड़ दे और....अपना आत्महित साधने के लिए तत्पर हो।"

पश्चाताप की अग्नि में जलते हुए अंगारक के हृदय में मुनिराज के वचनों ने अमृत का सिंचन किया....उसने हाथ जोड़कर मुनिराज से निवेदन किया –

"प्रभु ! मुझे क्षमा करो। मोह से अंधा होकर मैंने अत्यन्त घृणित कार्य किया है....क्रोध से मैं अविचारी बन गया था....प्रभु ! मुझे क्षमा करके इस भयंकर पाप से मेरा उद्धार करो। हे नाथ ! आपश्री के आहार दान के समय मैंने इस मणि को पेटी के ऊपर रख दिया था और उसी समय ऊपर बैठा यह मोर भी हमारे घर में घुस गया था और उस चमकती मणि को खाने की वस्तु समझकर गटक गया था....परन्तु वह मणि भाग्यवश उसके गले में ही अटक गयी....लेकिन मैंने बिना देखे....बिना विचारे आप पर शंका की....आप पर प्रहार करने के लिए लकड़ी उठाई.... परन्तु प्रभु ! सद्भाग्य से....वह मोर आपके पीछे-पीछे ही यहाँ आकर इस वृक्ष पर बैठ गया था....और मेरे द्वारा आपको मारने हेतु लकड़ी ऊपर उठाने पर उसके गले पर लकड़ी लगी और गले में से वह मणि नीचे गिर पड़ा....इस प्रकार आपकी रक्षा हो गई....मोर के भी प्राण बच गये....और मेरे इन पापी हाथों से एक वीतरागी योगी की हिंसा होते-होते बच गई।"

यह सब बोलते-बोलते पश्चाताप का भाव होने से अंगारक के पाप मानों पानी-पानी होकर आँखों में से अश्रुधारा के रूप में बाहर निकल रहे थे। थोड़ी देर तक चुप बैठकर उसने पुनः श्री मुनिराज से कहा –

"प्रभो ! हे प्रभो !! आपके अमृतमयी वचनों से आज मैंने नया जीवन प्राप्त किया है। नाथ ! इस पापमय संसार से अब मेरा उद्धार

करो...बस, अभी मुझे निर्ग्रन्थ मुनिदीक्षा प्रदान करो....और मेरा कल्याण करो।''

तब श्रीमुनिराज ने कहा – ''हे बन्धु ! तेरा भाव उत्तम है....परन्तु उसके पहले इस पद्ममणि को ले जाकर राजा को वापस करके आओ।''

''प्रभु ! इस पद्ममणि को छूने में भी अब मेरा हाथ काँपता है।''

''वत्स ! ऐसा समझ कि इस मणि के निमित्त से ही आज तेरे भावों में यह महान परिवर्तन हुआ है।''

अंगारक ने काँपते हाथों से मणि उठाया....और मुनिराज के चरणों में नमस्कार करके, राजदरबार की तरफ चला गया।

''लीजिये महाराज ! आपका यह पद्मरागमणि !!''

अंगारक ने काँपते हाथों से मणि महाराज को सौंप दिया। मणि को जैसा का तैसा वापिस पाकर महाराजा ने विस्मय से पूछा –

''क्यों कलाकार ! इस मणि को वापिस क्यों कर रहे हो ?''

''राजन् ! इस मणि को आभूषण में जड़ने का काम मुझसे नहीं हो सकता।''

''अरे ! क्या कहते हो अंगारक ! तुम्हारे जैसा कुशल कलाकार, यदि यह काम नहीं कर सकता है, तो अन्य कौन कर सकेगा ?''

''राजन् ! ऐसे मणि-रत्नों को जड़-जड़कर अनेक आभूषणों को तो मैंने शोभा दिलाई....और इसी में सारी जिंदगी समाप्त कर दी....परन्तु सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूपी रत्नों से मैंने अपनी आत्मा को आज तक आभूषित नहीं किया....महाराज ! अब तो जीवन में इन रत्नों को जड़कर उससे आत्मा की शोभा बढ़ाना है।''

''कलाकार को अचानक यह क्या हो गया ?'' – यह जब राजा को समझ में नहीं आया....तब राजा ने अंगारक से पूछा –

"लेकिन कलाकार ! आखिर बात क्या हो गयी ? यह तो बताओ ?"

तब अंगारक बोला – "राजन् ! आपके इस मणि के निमित्त से आज एक ऐसी घटना घट गई है कि जिसका वृत्तान्त कहना मेरे लिए संभव नहीं है, परन्तु इतना अवश्य है कि इस मणि को आभूषण में जड़ने से मुझे जो पुरस्कार आपसे मिलता, उससे भी महा विशेष अनन्त पुरस्कार आज मुझे मिल गये हैं। राजन् ! अब मैं रत्नत्रय मणि से अपने आत्मा को आभूषित करने को जा रहा हूँ....।"

राजा ने कहा – "परन्तु मेरे इस एक मणि को जड़ने का काम तो पूरा कर दो....।"

"नहीं राजन् ! अब यह अंगारक पहले जैसा कलाकार नहीं रह गया है, अब तो वह अपने आत्मा में ही सम्यक्त्व आदि मणि जड़ने के लिये जा रहा है....।" – ऐसा कहकर अंगारक राजभवन से चला गया।

राजा तो दिग्भ्रमित होकर बाहर की तरफ देखते ही रह गये। बहुत विचार करने पर भी इस घटना के रहस्य को वे सुलझा नहीं सके।

दूसरे दिन, जब नगरी के धर्मप्रेमी महिला-पुरुष श्री ज्ञानसागर मुनि महाराज के दर्शन करने आये....तब उनके साथ एक और नये महाराज को देखकर नगरजन विस्मित हो गये....और सबने भक्ति से उनके चरणों में भी अपना सिर झुकाया, परन्तु अरे ! यह तो हमारा सोनी.... कलाकार अंगारक है ! अपनी नगरी के ही एक नागरिक को इस प्रकार मुनिदशा में देखकर सबको महान आश्चर्य हुआ....और शीघ्र ही यह बात सारी नगरी में बिजली की तरह फैल गई।

राजा को भी जब यह खबर लगी तो वे भी शीघ्रता से वहाँ पहुँच गये....मुनिराज को वन्दना आदि करके राजा ने पूछा –

"प्रभो ! कल का कलाकार आज अचानक अध्यात्मयोगी बन

गया है – इसमें क्या रहस्य है। यह सब जानने के लिए हम अत्यन्त आतुर हो रहे हैं।''

श्री ज्ञानसागर मुनिराज ने मणि के गुमने और मिलने की कहानी विस्तार के साथ बताकर इस रहस्य का उद्घाटन किया और कहा –

''राजन् ! अब उसने अपनी आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी तीन रत्नों को जड़ दिया है – इन तीनों चैतन्य मणियों के प्रकाश से उसका आत्मा जगमगा कर रहा है और उसका मोहांधकार नष्ट हो गया है। अब वह जड़-पत्थरों का कलाकार न होकर चैतन्य मणियों का कलाकार बन गया है।''

कलाकार की रोमांचक कथा सुनकर राजा और प्रजा अत्यन्त विस्मित और हर्षित हुए....सबने एक स्वर में कहा – ''रत्नत्रय कलाकार की.... जय''.... ''अंगारक कलाकार की.... जय''....। श्री ज्ञानसागर मुनि महाराज की जय''.... इत्यादि प्रकार से जय-जयकार करके आकाश गुँजायमान कर दिया....।

तत्पश्चात् राजा ने उसी पद्मरागमणि के द्वारा अंगारक मुनि के चरणों की पूजा-अर्चना की....कलाकार ने जिस मणि को वापस कर दिया था, वही मणि फिर से उनके ही चरणों को जगमगा रहा था।

यह अत्यन्त आनन्द का दृश्य देखकर मोर भी आनन्द की टंकार लगाने लगा और आनन्द से अपने पंखों को फैलाकर नाचने लगा।

धन्य हैं ऐसे अंगारक मुनिराज धन्य हैं, उनकी सदा जय हो।

वास्तव में शरीर का छेदन होना यह तो कोई दुःख नहीं है, परन्तु अज्ञानी को देह में ही अपना सर्वस्व दिखता है, देह से अलग अपना कोई अस्तित्व ही उसे नहीं दिखता, इस कारण देहबुद्धि से वह दुःखी है। – छहढाला प्रवचन भाग-१, पृष्ठ ७१

आत्मसाधक वीर गजकुमार

(हरिवंश पुराण का एक वैराग्य प्रसंग)

देवकी माता के आठवें पुत्र श्री गजकुमार श्रीकृष्ण के छोटे भाई और श्री नेमिप्रभु के चचेरे भाई थे। उनका रूप अत्यंत सुन्दर था। लोक में उन्हें जो भी देखता मुग्ध हो जाता। श्री नेमिनाथ प्रभु केवलज्ञान प्राप्त करके तीर्थंकर रूप में विचरते थे, यह उसी समय की बात है।

श्रीकृष्ण ने अनेक राजकन्याओं के साथ-साथ सोमिल सेठ की पुत्री सोमा के साथ भी गजकुमार के विवाह की तैयारी की थी। इसी समय विहार करते-करते श्री नेमिनाथ तीर्थंकर का समवशरण द्वारिका नगरी आया। जिनराज के पधारने से सभी उनके दर्शन के लिए गये। नेमिप्रभु को देखते ही गजकुमार को उत्तम भाव जागा –

"अहो ! ये तो मेरे भाई !! तीन लोक के नाथ जिनेश्वर देव !! मुझे मोक्ष ले जाने के लिए पधारे हैं।"

ऐसे नेमिनाथ प्रभु के दर्शन से गजकुमार परम प्रसन्न हुए। प्रभु के श्रीमुख से तीर्थंकरादि का पावन चरित्र सुना। अहो ! यह नेमिनाथ की वाणी ! विवाह के समय ही वैराग्य प्राप्त करने वाले नेमिप्रभु की वीतराग रस से सराबोर वाणी में संसार की असारता और आत्मतत्त्व की परम महिमा सुनकर गजकुमार का हृदय वैराग्य से ओतप्रोत हो गया, वे विषयों से विरक्त हुए –

"अरे रे ! मैं अभी तक संसार के विषयभोगों में डूबा रहा और अपनी मोक्ष साधना से चूक गया। अब मैं आज ही दीक्षा लेकर उत्तम प्रतिमा योग धारण करके मोक्ष की साधना करूँगा।"

इस प्रकार निश्चय करके उन्होंने तुरन्त ही माता-पिता, राज-पाट तथा राज-कन्याओं को छोड़कर जिनेन्द्रदेव के धर्म की शरण ले ली। संसार से भयभीत मोक्ष के लिए उत्सुक और प्रभु के परम भक्त ऐसे उन

वैरागी गजकुमार ने भगवान नेमिनाथ की आज्ञापूर्वक दिगम्बरी दीक्षा धारण की। उनकी अनंत आत्मशक्ति जागृत हो गयी। मुनि गजकुमार चैतन्य ध्यान में तल्लीनता पूर्वक महान तप करने लगे। उनके साथ जिनकी सगाई हुई थी, उन राजकन्याओं को उनके माता-पिता ने बहुत समझाया कि अभी तुम्हारा विवाह नहीं हुआ, इसलिए तुम दूसरी जगह अपना विवाह करा लो, लेकिन उन उत्तम संस्कारी कन्याओं ने दृढ़तापूर्वक कहा –

"नहीं, पिताजी ! मन से एक बार जिसे पतिरूप स्वीकार किया, उनके अलावा अब कहीं दूसरी जगह हम विवाह नहीं करेंगे। जिस कल्याण मार्ग पर वे गये हैं, उसी कल्याण मार्ग पर हम भी जावेंगे। उनके प्रताप से हमें भी आत्महित करने का अवसर मिला।"

इस प्रकार वे कन्याएँ भी संसार से वैराग्य प्राप्त कर दीक्षा लेकर अर्यिका बनी ! धन्य आर्य संस्कार ! मुनिराज गजकुमार श्मशान में जाकर अति उग्र पुरुषार्थ पूर्वक ध्यान करते थे। इसी समय सोमिल सेठ वहाँ आया। "मेरी पुत्री को इसी गजकुमार ने तड़फाया है।" – ऐसा विचार वह अत्यन्त क्रोधित हुआ। "साधु होना

था तो फिर मेरी पुत्री के साथ सगाई क्यों की ? दुष्ट ! तुझे मैं अभी मजा चखाता हूँ।" – इस प्रकार क्रोधपूर्वक उसने गजस्वामी मुनिराज के मस्तक पर मिट्टी का पाल बाँधकर उसमें अग्नि जलाई। मुनिराज का मस्तक जलने

लगा, साथ ही उनका अत्यंत कोमल शरीर भी जलने लगा। फिर उस दुष्ट ने मार-मार कर उन मुनिराज के शरीर को कीलों से चलनी के समान कर डाला। घोर उपसर्ग हुआ। फिर भी वे तो घोर पराक्रमी वीर गजस्वामी मुनिराज मानो शांति के पहाड़ हों ध्यान से डिगे ही नहीं। बाहर में अग्नि से माथा जल रहा था और अंदर में ध्यानाग्नि से कर्म जल रहे थे।

छिद जाय या भिद जाय अथवा प्रलय को प्राप्त हो।
चाहे चला जाये जहाँ पर ये मेरा किंचित् नहीं॥

बाहर में उन मुनिराज का शरीर बाणों से भेदा जा रहा था, परन्तु वे अंदर आत्मा को मोह-बाण नहीं लगने देते थे। वे गंभीर मुनिराज तो स्वरूप की मस्ती में मस्त, अडोल प्रतिमायोग धारण किये हुए बैठे हैं। बाहर में मस्तक भले ही अग्नि में जल रहा हो, परन्तु अंदर आत्मा तो चैतन्य के परम शांतरस से ओतप्रोत है। शरीर जल रहा है फिर भी आत्मा स्थिर है, क्योंकि दोनों भिन्न हैं। जड़ और चेतन के भेदविज्ञान द्वारा चैतन्य की शांति में स्थित होकर घोर परिषह सहनेवाले मुनिराज, अत्यन्त शूरवीर, जिस दिन दीक्षा ली, उसी दिन शुक्लध्यान के द्वारा कर्मों को भस्म कर केवलज्ञान और फिर मोक्ष प्राप्त किया ? ''अंतःकृत'' केवली हुए, उनके केवलज्ञान और निर्वाण दोनों ही महोत्सव देवों ने एक साथ मनाये।

एकाएक राजपुत्र गजकुमार के दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष की बात सुनकर, समुद्रविजय महाराज एवं श्रीकृष्ण को छोड़कर उनके नौ पुत्रों (नेमिप्रभु के पिताजी एवं भाइयों) ने संसार से विरक्त होकर जिनदीक्षा धारण की। श्री नेमिप्रभु की माताजी शिवादेवी आदि ने भी दीक्षा ले ली। उसके बाद अनेक वर्ष विहार करते हुए नेमिप्रभु पुनः सौराष्ट्र में गिरनार पर्वत पर पधारे।

आत्मसाधना के लिए गजकुमार स्वामी के इस उग्र पुरुषार्थ का प्रसंग १९वीं सदी में जन्मे क्रांतिकारी युगपुरुष श्री कानजीस्वामी को बहुत प्रिय था, वे यदा-कदा प्रवचन में उसका भावभीना वर्णन करके साधक

को अति उग्र पुरुषार्थ का स्वरूप समझाते थे, तब मुमुक्षु जीव भी चैतन्य के पुरुषार्थ से आप्लावित हो जाते और मोक्ष के इस अडोल अप्रतिहत साधक के प्रति उनका हृदय उल्लास से नम्रीभूत होता हुए बिना नहीं रहता। अहो ! जिसने पुरुषार्थ के द्वारा आत्म-साधना की है, उसे जगत का कोई भी प्रसंग रोक नहीं सकता।

(श्री नेमिप्रभु गिरनार पधारे और बलदेव वासुदेव – प्रद्युम्नकुमार आदि प्रभु के दर्शन के लिए आये। फिर क्या हुआ ? उसे अगली कहानी में पढ़िये।)

द्वारिका कैसे जली ?

(द्वारिका नगरी भले ही जल गयी हो, परन्तु धर्मात्मा की शांत पर्याय नहीं जली थी। वह तो अग्नि से तथा शरीर से भी अलिप्त चैतन्य रस में लीन थी।)

श्री नेमिप्रभु गिरनार पधारे और श्रीकृष्ण, बलभद्र आदि उनके दर्शन करने के लिए आये। उस समय प्रभु के श्रीमुख से दिव्यध्वनि से वीतरागी उपदेश सुनने के बाद, बलभद्र ने विनय से पूछा –

"हे देव ! आपके पुण्योदय से द्वारिकापुरी कुबेर ने रची है। अद्भुत वैभवयुक्त यह द्वारिका नगरी कितने वर्ष तक रहेगी ? जो वस्तु कृत्रिम होती है, उसका नाश होता ही है, अतः यह द्वारिका नगरी सहज विलय को प्राप्त होगी या किसी निमित्त के द्वारा ? तथा जिससे मुझे तीव्र स्नेह है – ऐसे इस मेरे भाई श्रीकृष्ण वासुदेव के परलोक गमन का क्या कारण होगा ? महापुरुषों का शरीर भी तो कोई स्थिर रहता नहीं है तथा मुझे जगत सम्बन्धी अन्य पदार्थों का ममत्व तो कम है, मात्र एक भाई श्रीकृष्ण के तीव्र स्नेह-बंधन से क्यों बँधा हुआ हूँ।"

तब तीर्थंकर श्रीनेमिनाथ प्रभु ने दिव्यध्वनि में आया – "आज से बारह वर्ष बाद शराब के नशे की उन्मत्तता से यादवकुमार द्वीपायन मुनि को क्रोध उत्पन्न करायेंगे और वे द्वीपायन मुनि (बलभद्र के मामा) क्रोध

के द्वारा इस नगरी को भस्म करेंगे तथा महाभाग्यवान श्रीकृष्ण जब कौशाम्बी के वन में सो रहे होंगे, तब उसी समय उनके ही भाई जरतकुमार के बाण से परलोक सिधारेंगे। उसके छह माह पश्चात् सिद्धार्थ देव के संबोधन से तुम (बलभद्र) संसार से विरक्त होकर संयमदशा को धारण करोगे।

जन्म-मरण के दुख का कारण तो राग-द्वेष का भाव है और जिस समय पुण्य का प्रताप क्षय को प्राप्त होता है, उसी समय बाहर में कोई न कोई निमित्त मिल जाता है। वस्तु स्वभाव को जाननेवाले वैरागी जीव पुण्य-प्रसंग में हर्ष नहीं करते और उसके नाश के समय विषाद नहीं करते। वासुदेव के वियोग से तुम (बलभद्र) प्रथम तो बहुत दुखी होगे, लेकिन फिर प्रतिबुद्ध होकर भगवती दीक्षा धारण कर पाँचवें ब्रह्मस्वर्ग में जाओगे। वहाँ से नरभव प्राप्त कर निरंजन सिद्ध होगे, मोक्ष प्राप्त करोगे। श्रीकृष्ण भी भविष्य में मोक्ष प्राप्त करेंगे।"

(बलभद्र और श्रीकृष्ण दोनों ही जीव तीर्थंकर होंगे – ऐसा उत्तरपुराण में कहा है।)

प्रभु की यह बात सुनकर द्वीपायन तो तुरंत दीक्षा धारण करके द्वारिका से दूर-सुदूर विहार कर गये। द्वीपायन मुनि ने सोचा कि विहार करने से, मेरे निमित्त से होने वाला द्वारिका का विनाश रुक जायेगा। लेकिन अरे रे ! भगवान के ज्ञान में जो भासित हुआ है, उसे कौन बदल सकता है ? इसी प्रकार मेरे बाण से हरि की मृत्यु होगी – ऐसा सुनकर जरतकुमार भी बहुत दुखी हुआ और कुटुम्ब को छोड़कर दूर ऐसे वन में चला गया कि जहाँ हरि के दर्शन भी नहीं हो सके। श्रीकृष्ण से स्नेह के कारण वह जरतकुमार बहुत व्याकुल हो गया। श्रीकृष्ण हरि उसे प्राण से भी अधिक प्रिय थे। वे दूर वन में वनचर की भाँति रहने लगे, जिससे अपने हाथ से हरि की मृत्यु न हो। लेकिन अरे ! प्रभु की वाणी को कौन मिथ्या कर सकता है ?

अन्य सब बलभद्र, श्रीकृष्ण आदि यादव द्वारिका की होनहार सुनकर चिंता से दुखित-हृदय द्वारिका आये। द्वारिका तो जैनधर्मियों की नगरी, महा दया धर्म से भरी हुई, वहाँ माँस-मद्य कैसा ? जहाँ नेमिकुमार रहे हैं और जहाँ बलदेव-वासुदेव का राज्य हो, वहाँ माँस और शराब की बात कैसी ? परन्तु कर्मभूमि होने से कोई पापी जीव गुप्तरूप से कभी मद्यादि का सेवन करता हो – ऐसा विचार कर वासुदेव ने द्वारिका नगरी में घोषणा कर दी कि कोई अपने घर में मद्यपान की सामग्री नहीं रखेगा, जिसके पास हो वह शीघ्र नगर के बाहर फेंक दे। ऐसा सुनकर जिसके पास मद्य-सामग्री थी, उन्होंने कदंब वन में उसे फेंक दी और वहाँ वह सूखने लगी।

फिर श्रीकृष्ण ने द्वारिका के सभी नर-नारियों से वैराग्यपूर्ण घोषणा की, नगरी में ढ़िंढ़ोरा पिटवाया कि मेरे माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री, स्त्री और नगर के लोग, जिसे वैराग्य धारण करना हो, वे शीघ्र ही जिनदीक्षा लेकर आत्मकल्याण करो। मैं किसी को नहीं रोकूँगा। मैं स्वयं व्रत नहीं ले पा रहा हूँ, लेकिन द्वारिका नगरी जलने से पहले जिन्हें अपना कल्याण करना हो, वे कर लें, उन्हें मेरी अनुमोदना है। श्रीकृष्ण को जिन वचनों में परम श्रद्धा थी, उन्होंने अपने सम्यक्तपूर्वक प्रभु के चरणों में विशुद्ध धर्मभावना के भाव से तीर्थंकर प्रकृति बाँधी और धर्मात्मा जीवों की साधना में महान अनुमोदना की।

श्रीकृष्ण की धर्म घोषणा सुनकर उनका पुत्र प्रद्युम्नकुमार, भानुकुमार आदि जो चरम शरीरी थे। उन्होंने तो जिनदीक्षा ले ही ली थी। सत्यभामा, रुक्मणी, जांबुवती आदि आठ-पटरानियों और दूसरी हजारों रानियों ने भी नेमिप्रभु के समवशरण में जाकर आर्यिका राजमती के संघ में दीक्षा ली। द्वारिका नगरी की प्रजा में से बहुत पुरुष मुनि हुए। बहुत स्त्रियाँ आर्यिका हुईं। श्रीकृष्ण ने सभी को प्रेरणा देते हुए ऐसा कहा –

"संसार के समान कोई समुद्र नहीं, इसलिए संसार को असार

जानकर नेमिप्रभु के बताये हुए मोक्षमार्ग की शरण लो। हमारा तो इस भव में संयम का योग नहीं है और बलदेव भी मेरे प्रति मोह के कारण मुनिव्रत नहीं ले पा रहे हैं। मेरे वियोग के बाद वे मुनिव्रत धारण करेंगे। बाकी मेरे सभी भाइयो, यादवो, हमारे वंश के सभी राजाओ, कुटुम्बीजनो और धर्मप्रेमी प्रजाजनो, सभी इस क्षणभंगुर संसार का संबंध छोड़कर शीघ्र जिनराज के धर्म की आराधना करो, मुनि तथा श्रावक के व्रत धारण करो और कषाय अग्नि से जलते हुए इस संसार में से बाहर निकल जाओ।"

श्रीकृष्ण की यह बात सुनकर बहुत जीव वैरागी होकर व्रत धारण करने लगे। अनेक मुनि हुए, अनेक श्रावक हुए। सिद्धार्थ जो बलदेव का सारथी था, उसने भी वैराग्यमयी मुनिधर्म प्राप्त करने के लिए बलदेव के पास दीक्षा के लिए आज्ञा माँगी। उसी समय बलदेव ने आज्ञा देते हुए कहा–

"श्रीकृष्ण के वियोग में जब मुझे संताप उपजेगा, तब तुम मुझे देवलोक से आकर संबोधना और वैराग्य प्राप्त कराना।"

सिद्धार्थ ने उस बात को स्वीकार कर जिनदीक्षा ले ली। द्वारिका के दूसरे अनेक लोग भी बारह वर्ष के लिए नगरी छोड़कर वन में चले गये और वहाँ व्रत-उपवास, दान-पूजादि में तत्पर हुए, परन्तु वे सभी बारह त्रर्ष की गिनती भूल गये और बारह वर्ष पूरे होने से पहले ही (बारह वर्ष बीत गये –'ऐसा समझकर) द्वारिका नगरी में फिर आकर बस गये। रे होनहार !

इधर द्वीपायन मुनि, जो विदेश में विहार कर गये थे। वे भी भूलकर और भ्रान्ति से बारह वर्ष पूरे हो गये – ऐसा समझकर द्वारिका की ओर आये। वे मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी भी सर्वज्ञ की श्रद्धा से भ्रष्ट होकर मन में यह विचार करने लगे कि बारह वर्ष तो बीत गये। मुझे भगवान ने जो भवितव्य बताया था, वह टल गया। ऐसा विचार कर उन्होंने द्वारिका के

कदंबवन के पास आतापन योग धारण किया। अरे ! जो-जो देखी वीतराग ने सो-सो होसी वीरा रे....।

भवितव्य के योग से बराबर उसी समय अनेक यादवकुमार वनक्रीड़ा करने के लिए आये थे। वे थक गये थे और उन्हें बहुत प्यास लगी थी, जिससे उन्होंने कदंबवन के कुण्ड में से पानी निकाल कर पी लिया। पहले यादवों ने जो मदिरा नगर के बाहर फेंक दी थी, वह पानी के साथ होती हुई इस कुंड में जमा हो गई थी तथा उसमें बहुत से फल गिरे थे, सूर्य की गर्मी के कारण सारा पानी मदिरा के समान ही हो गया था। प्यास से यादवकुमारों ने वह पानी पिया और बस, कदंबवन की उस कादंबरी (मदिरा) को पीने से उन यादव कुमारों को नशा चढ़ा, वे उन्मत होकर कुछ भी उल्टा-सीधा बकने लगे और ऊटपटांग नाचने लगे। इसी समय उन्होंने द्वीपायन को देखा। देखते ही कहा –

"अरे ! यह तो द्वीपायन है, इसके द्वारा ही तो द्वारिका नगरी का नाश होना था, तब तो ये यहाँ से भाग गया था, परन्तु अब वह हमसे बचकर कहाँ जायेगा ? – ऐसा कहकर वे कुमार निर्दयतापूर्वक उन तापसी के ऊपर पत्थर मारने लगे।"

उन्होंने उन्हें इतना मारा कि वे तापसी जमीन पर गिर पड़े। उस समय उन द्वीपायन मुनि को बहुत क्रोध आया। अरे, होनहार ! क्रोध से होंठ भींचकर उन्होंने आँखें चढ़ाई और यादवों के नाश के लिए कटिबद्ध हुए। यादव कुमार भय के कारण दौड़ने लगे। दौड़ते-दौड़ते द्वारिका नगरी में आये और पूरी नगरी में हलचल मच गयी।

बलदेव और श्रीकृष्ण यह बात सुनते ही मुनि को शान्त करने के लिए दौड़े। जिनके सामने नजर मिलाना भी मुश्किल था तथा जिन्होंने सारी द्वारिका के प्राण मानो कण्ठगत किये हों, ऐसे क्रोधाग्नि से प्रज्ज्वलित भयंकर द्वीपायन ऋषि के प्रति भी श्रीकृष्ण-बलदेव ने हाथ जोड़कर नमस्कार करके नगरी का अभयदान माँगा –

"हे साधु ! रक्षा करो !! क्रोध को शान्त करो !!! तप का मूल क्षमा है, इसलिए क्रोध तजकर इस नगरी की रक्षा करो। क्रोध तो मोक्ष के साधन रूप तप को क्षणमात्र में जला सकता है, इसलिए क्रोध को जीत कर क्षमा करो। हे साधु ! बालकों की अविवेकी चेष्टा के लिए हमें क्षमा करो और हमारे ऊपर प्रसन्न होओ" –

इस प्रकार श्रीकृष्ण और बलदेव दोनों भाइयों ने प्रार्थना की, परन्तु क्रोधी द्वीपायन ने तो द्वारिका नगरी को जला ड़ालने का निश्चय कर ही लिया था, दो अंगुली ऊँची करके उन्होंने यह सूचना की –

"मात्र तुम दोनों भाई ही बचोगे, दूसरा कोई नहीं।"

उस समय दोनों भाई जान गये कि बस, अब द्वारिका में सभी के नाश का काल आ गया है। दोनों भाई खेदखिन्न होकर द्वारिका आ गये और अब क्या करें इसकी चिन्ता करने लगे। उधर मिथ्यादृष्टि द्वीपायन भयंकर क्रोधरूप अग्नि के द्वारा द्वारिकापुरी को भस्म करने लगे। देवों के द्वारा रची द्वारिका नगरी एकाएक भड़भड़ जलने लगी। मेरे निर्दोष होने पर भी मुझे इन लोगों ने मारा, इसलिए अब मैं इन पापियों सहित पूरी नगरी को ही भस्म कर डालूँगा। ऐसे आर्त्तध्यान सहित तेजस लेश्या से उस नगर को जलाने लगे। नगरी में चारों ओर उत्पात मच गया। घर-घर में सभी को भय से रोमांच होने लगा।

पिछली रात में नगरी में लोगों ने भयंकर सपने भी देखे थे। उधर क्रोधी द्वीपायन, मनुष्यों और पशुओं से भरी उस द्वारिका नगरी को जलाने लगे। अग्नि में अनेक प्राणी जलने लगे। तब वे जले प्राणी अत्यंत करुण विलाप करने लगे....कोई हमें बचाओ रे बचाओ ! ऐसा करुण चीत्कार श्रीकृष्ण की नगरी में कभी नहीं हुआ। बाल, वृद्ध, स्त्री, पशु और पक्षी सभी अग्नि में जलने लगे.... देवों के द्वारा रची द्वारिका नगरी छह मास तक आग में जलती रही और सर्वथा नष्ट हो गयी। विशेष बात यह है कि

द्वीपायन मुनि अपनी जलाई अग्नि में स्वयं भी भस्मीभूत हो गये थे।

यहाँ कोई प्रश्न करे – "अरे ! यह महान वैभवशाली द्वारिका पुरी, जिसकी देवों ने रचना की थी तथा जिसकी अनेक देव सहायता करते थे, वे सभी अब कहाँ गये ? किसी ने द्वारिका को क्यों नहीं बचाया ? बलदेव-वासुदेव का पुण्य भी कहाँ गया ?

उसका समाधान – हे भाई ! सर्वज्ञ भगवान के द्वारा देखी हुई भवितव्यता दुर्निवार है। जिस समय यह होनहार हुई, उस समय देव भी दूर चले गये थे। जब भवितव्य ही ऐसा था तो वहाँ देव क्या कर सकते थे ? यदि देव नहीं जाते और नगरी की रक्षा करते, तब वह जलती कैसे? अरे ! जब नगरी जलने का समय आया तब देव चले गये। पुण्यसंयोग किसी का कायम नहीं रहता, वह तो अस्थिर है।

द्वारिका नगरी के जलने से प्रजाजन अत्यन्त भयभीत होकर बलदेव-वासुदेव की शरण में आये और अतिशय व्याकुलता से पुकारने लगे –

"हे नाथ ! हे कृष्ण ! हमारी रक्षा करो, इस घोर अग्नि से हमें बचाओ।"

अपनी आँखों के सामने भड़कती हुई अग्नि को द्वारिका नगरी में देखकर दोनों भाई एकदम आकुल-व्याकुल हो गये। जबकि दोनों भाई आत्मज्ञानी थे – यह जानते हुए भी कि द्वारिका के इन सब परद्रव्यों में से कोई भी हमारा नहीं है। इन सबसे भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा हमारा है, तब भी मोहवश दोनों व्याकुल होकर बोलने लगे – "अरे ! हमारे महल और रानियाँ जल रही हैं, परिवार और प्रजाजन जल रहे हैं, कोई तो बचाओ ! कोई देव तो सहायता करने आओ !"

परन्तु सर्वज्ञदेव द्वारा देखी हुई भवितव्यता के सामने और द्वीपायन ऋषि के क्रोध के सामने देव भी क्या करेंगे ? आयु पूर्ण होने पर इन्द्र-

नरेन्द्र-जिनेन्द्र कोई भी जीव को नहीं बचा सकते। तब तो मात्र एक अपनी आत्मा ही शरण है।

जब कोई उपाय नहीं सूझा, तब श्रीकृष्ण और बलदेव नगरी का किला तोड़कर नदी के पानी से आग बुझाने लगे, परन्तु रे देव ! यह पानी भी तेल के समान होने लगा और उसके द्वारा आग और बढ़ने लगी। उस समय आग को रोकना अशक्य जानकर दोनों भाई माता-पिता को नगर के बाहर निकालने के लिए उघमी हुए। रथ में माता-पिता को बैठाकर घोड़ा जोता; परन्तु वह नहीं चला, हाथी जोते परन्तु फिर भी नहीं चला। रथ का पहिया पृथ्वी में धंस गया.... अन्त में हाथी-घोड़े से रथ नहीं चला – ऐसा देखकर वे श्रीकृष्ण और बलभद्र दोनों भाई स्वयं रथ में जुते और उसे खींचने लगे.... परन्तु रथ नहीं चला सो वह नहीं ही चला.... वह तो वहीं का वही रुका रहा। जिस समय बलदेव जोर लगाकर रथ को दरवाजे के पास तक लाये.... उसी समय नगरी का दरवाजा अपने आप बंद हो गया। दोनों भाइयों ने लकड़ी मार-मार कर दरवाजा तोड़ने की कोशिश की, तब आकाश से देव बाणी हुई –

"मात्र तुम दोनों भाई ही द्वारिका में से जीवित निकल सकते हो, तीसरा कोई नहीं। माता-पिता को भी तुम नहीं बचा सकते।"

उस समय उनके माता-पिता ने गद्‌गद् भाव से कहा –

"हे पुत्रो ! तुम शीघ्र चले जाओ, हमारा तो मरण निश्चित है। यहाँ से अब एक कदम भी चल नहीं सकते। इसलिए तुम जो ...... यदुवंश के तिलक हो। तुम जीवित रहोगे तो सब जीवित रहेंगे। दोनों भाई अत्यंत हताश हुए और माता-पिता के पैर छूकर, रोते-रोते उनकी आज्ञा लेकर वे नगर के बाहर चले गये। अरे ! तीन खण्ड के ईश्वर भी माता-पिता को न बचा सके।

श्रीकृष्ण और बलभद्र ने बाहर आकर देखा, तो क्या देखा ?

सुवर्णरत्नमयी द्वारिका नगरी सारी भड़भड़ जल रही है। घर-घर में आग लगी है, राजमहल भस्म हो गया है।

उस समय दोनों भाई एक-दूसरे के कन्धे मिलाकर रोने लगे....और दक्षिण देश की ओर चले गये। (देखो, इस पुण्य-संयोग की दशा !)

उधर द्वारिका नगरी में उनके पिता वसुदेव आदि अनेक यादव और उनकी रानियाँ प्रायोपगमन संन्यास धारण करके देव लोक में गये। बलदेव के कितने ही पुत्र जो तद्भव मोक्षगमी थे तथा संयम धारण करने का जिनका भाव था, उनको तो देव नेमिनाथ भगवान के पास ले गये। अनेक यादव और उनकी रानियाँ, जो धर्मध्यान की धारक थीं और जिनका अतं:करण सम्यग्दर्शन के द्वारा शुद्ध था, उन्होंने प्रायोपगमन-संन्यास धारण कर लिया। अत: अग्नि का घोर उपसर्ग भी आर्त-रौद्र ध्यान का कारण नहीं बना, धर्मध्यान पूर्वक देह छोड़कर वे स्वर्ग में गये।

देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत और प्राकृतिक ये चार प्रकार के उपसर्ग हैं। वे मिथ्यादृष्टि जीव को आर्त्त-रौद्र ध्यान के कारण हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव को खोटे भाव के कारण नहीं होते। जो सच्चे जिनधर्मी हैं, वे मरण को प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु कायर नहीं होते। किसी भी प्रकार

मरण आवे तो भी धर्म की ही दृढ़ता रहती है। अज्ञानी को मरते समय क्लेश होता है, जिससे कुमरण करके कुगति में जाता है और जो जीव सम्यग्दर्शन के द्वारा शुद्ध है, जिनका परिणाम उज्ज्वल है, वे जीव समाधिपूर्वक मरण करके स्वर्ग में जाते हैं और परम्परा मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

जो जिनधर्मी हैं, उन्हें ऐसी भावना है कि यह संसार अनित्य है, इसमें जो उत्पन्न हुआ है, वह जरूर ही मरेगा। इसलिए हमें अखण्ड बोधसहित समाधिमरण प्राप्त हो। उपसर्ग आने पर भी हमें कायर नहीं बनना चाहिए। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव को हमेशा समाधि की भावना रहती है। धन्य है उन जीवों को जो कि अग्नि की प्रचंड ज्वाला के बीच देह भस्म होने पर भी जिन्होंने समाधि नहीं छोड़ी। शरीर को तजने पर भी समता को नहीं छोड़ा। अहो ! सत्पुरुषों का जीवन निज-पर के कल्याण के लिए ही है। मरण को प्राप्त होने पर भी वे किसी के प्रति द्वेष नहीं विचारते, क्षमा भाव सहित देह छोड़ते हैं। यह जैन संतों की रीति है।

अरे द्वीपायन ! जिनवचन की श्रद्धा छोड़कर तुमने अपना तप भी बिगाड़ा। तुमने अपना घात किया और अनेक जीवों का भी प्रलय किया। दुष्ट भाव को लेकर तुम स्व-पर को दुखदायी हुये। जो पापी परजीवों का घात करता है, वह भव-भव में अपना घात करता है।

जीव जब कषायों के वश हुआ तब वह अपना घात तो कर ही चुका, फिर दूसरे जीवों का घात तो हो या न भी हो, वह उसके कर्माधीन भाग्याधीन है; परन्तु जब जीव ने परजीव के घात का विचार किया, तब उसे जीव हिंसा का पाप तो लग ही चुका और वह आत्मघाती भी हो ही गया। दूसरे को मारने का भाव करना, धधकता लोहे का टुकड़ा दूसरे को मारने के लिए हाथ में लेने जैसा है, अर्थात् सामनेवाला जले या न जले, परन्तु पहले स्वयं तो जलता ही है। वैसे ही कषायवश जीव प्रथम तो स्वयं

ही कषाय अग्नि के द्वारा जलता है। क्रोध से पर का बुरा करने वाला जीव अपने दुख की परम्परा भोगता है, इसलिए जीवों को क्षमाभाव रखना योग्य है।

क्रोध से अन्धे हुए द्वीपायन तापसी ने भवितव्यतावश द्वारिका नगरी को भस्म किया, उसमें कितने ही बालक, वृद्ध, स्त्रियाँ, पशु जल गये और स्वयं द्वीपायन मुनि भी। अनेकों जीवों से भरी हुई वह नगरी छह महिने तक आग में जलती रही.... अरे, धिक्कार हो – ऐसे क्रोध को कि जो स्व-पर का नाश करके संसार बढ़ाने वाला है।

अरे, देखो तो जरा इस संसार की स्थिति ! बलदेव और श्रीकृष्ण वासुदेव ऐसे महान पुण्यवन्त पुरुषों ने कितनी महान विभूति को प्राप्त किया था, जिनके पास सुदर्शनचक्र जैसे अनेक महारत्न थे, हजारों देव जिनकी सेवा करते थे और हजारों राजा जिन्हें शीश नवाते थे। अरे ! भरतक्षेत्र के ऐसे भूपति भी पुण्य समाप्त होने पर श्रीविहीन हो गये। नगरी और महल सब जल गये, समस्त परिवार का वियोग हो गया, मात्र प्राण ही जिनका परिवार रह गया। कोई देव भी जिनकी द्वारिका को जलने से नहीं बचा सका।

इस प्रकार वे दोनों भाई अत्यन्त शोक के भार से और जीने की आशा से पाण्डवों के पास दक्षिण मथुरा की ओर चले। अरे ! अंसार-संसार ! ऐसे पुण्य-पाप के विचित्र खेल देखकर हे जीव ! तुम पुण्य के भरोसे मत बैठे रहना, शीघ्र आत्महित की साधना करना।

जन्म में या मरण में, फिर सुख में या दुख में।
इस संसार में या मोक्ष में, रे जीव ! तू तो अकेला है।।

(द्वारिका नगरी भस्मसात हो गयी, फिर श्रीकृष्ण और बलभद्र का क्या हुआ ? पाण्डवों का क्या हुआ ? उसे अगली कहानियों में पढ़िये)

श्रीकृष्ण की मृत्यु

द्वीपायन मुनि के क्रोध से द्वारिका नगरी जलकर भस्म हो गयी। श्रीकृष्ण और बलभद्र जैसे महान पराक्रमी योद्धा उस नगरी को तो बचा ही न सके, परन्तु अपने माता-पिता को भी नगरी के बाहर न निकाल सके। अरे, देखो ! इस संसार की स्थिति ! ऐसे पुण्य का क्या भरोसा !! बलदेव और वासुदेव जैसे महापुण्यवन्त पुरुष, जिनके पास तीन खण्ड का राज्य, सुदर्शन चक्र जैसी महान विभूति अचिन्त्य शारीरिक बल तथा हजारों देव और राजा जिनकी सेवा करने वाले हों – ऐसे महान राजा भी पुण्य के समाप्त होने पर रत्नों और राज्य से रहित हो गये। देव दूर चले गये। नगरी और महल सभी जल गये। समस्त परिवार का वियोग हो गया। मात्र प्राण ही उनका परिवार रहा...।

द्वारिका नगरी को जलती हुई छोड़कर बलभद्र और श्रीकृष्ण दक्षिण देश की ओर जा रहे थे, उसी बीच में कौशाम्बी नाम का भयंकर वन आया, तपती दुपहरी में उस निर्जन वन में मृगमरीचिका का जल तो बहुत दिखाई देता था, परन्तु सच्चा पानी मिलना दुर्लभ था। उसी समय थके हुए श्रीकृष्ण को बहुत प्यास लगी.... वे बलभद्र से कहने लगे –

"हे बन्धु ! मुझे बहुत प्यास लगी है, पानी के बिना मेरे होंठ और तालु सूख रहे हैं, अब मैं एक कदम भी नहीं चल सकता, इसलिए मुझे जल्दी ठण्डा पानी पिलाओ। जिस प्रकार अनादि से सार रहित संसार से संतप्त जीव को सम्यग्दर्शन रूपी जल की प्राप्ति होने पर उसका भव-आताप मिटता है, वैसे ही मुझे शीतल जल लाओ, जिससे मेरी प्यास मिटे। प्यास के कारण श्रीकृष्ण के मुँह में से धीरे-धीरे श्वास निकल रही थी। अरे रे ! तीन खण्ड के स्वामी को पानी का ही संकट पड़ गया है।

बलभद्र दुःखी होकर अत्यन्त स्नेह से कहते हैं – "हे हरि ! हे भ्रात ! हे तीन खण्ड के रक्षक ! मैं अपने और तुम्हारे लिए ठण्डा पानी लाता हूँ।.... तब तक तुम जिनेन्द्र भगवान के स्मरण के द्वारा अपनी तृषा शांत करो। तुम तो जिनवाणी रूपी अमृतपान के द्वारा सदा तृप्त हो। इस

पानी से थोड़े ही समय तक प्यास बुझती है और फिर प्यास लगने लगती है, अरे ! जिनवचन रूपी अमृत तो सदाकाल के लिए विषय-तृष्णा को मूल से ही मिटा देता है। हे जिनशासन के वेत्ता ! तुम इस बट-वृक्ष की शीतल छाया में आराम करो, मैं शीघ्र ही पानी लाता हूँ। तुम चित्त को शीतल करके शान्तभाव रूप निज भवन में जिनेश्वर की स्थापना करो।''

इस तरह बड़ा भाई छोटे भाई को समझाकर उसके लिए पानी की खोज में निकल पड़ा है। कृष्ण के दुख से उसका चित्त भी दुखी है, वह अपना सुख भूल गया है.... एक कृष्ण की ही चिन्ता है.... वह उसके लिए पानी लेने बहुत दूर तक चला गया। रास्ते में अनेक अपशकुन भी हुए, परन्तु उन पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया।

इधर श्रीकृष्ण अपने मन में जिनेन्द्र भगवान का स्मरण करके, वृक्ष की छांया में पीताम्बर वस्त्र ओढ़कर सो गये। थके-माँदे सो रहे थे....। दैवयोग से उनका भाई जरतकुमार भी वहाँ आ पहुँचा, वह भी उसी वन में अकेला शिकार पाने के लिए घूम रहा था। वह नेमिनाथ प्रभु के वचनों की श्रद्धा के बिना और भाई के प्रति अति स्नेह के कारण, उनकी रक्षा करने के लिए ही द्वारिका से दूर जाकर वन में रहता था, परन्तु प्रभु के द्वारा देखे हुए भवितव्य को कौन मिटा सकता है ? जिस वन में वह रहता था, उसी वन में श्रीकृष्ण भी आ गये.... श्रीकृष्ण के द्वारा ओढ़ा हुआ वस्त्र हवा में उड़ रहा था, वह देखकर उसने उसे खरगोश का कान समझ लिया और दुष्ट परिणामी जरतकुमार ने बाण छोड़ दिया....और उस बाण से हरि के पैर का तलवा छिद गया, जख्मी हो गया। भाई के हाथ से ही भाई का घात हुआ। दुर्निवार भवितव्य अंत में होकर ही रहा।

पैर में बाण लगते ही श्रीकृष्ण एकदम उठे और चारों ओर देखा, परन्तु वहाँ कोई नहीं दिखा, इसलिए उन्होंने आवाज लगायी –

''अरे ! इस निर्जन वन में हमारा शत्रु कौन है ? जिसने मेरा पैर

घायल किया ? तुम जो भी हो, अपना नाम तथा कुल बताओ.... क्योंकि नाम कुल जाने बिना मैं किसी का घात नहीं करता – यह हमारा प्रण है, इसलिये तुम कौन हो ? और बिना कारण किस वैर से तुम हमारे प्राणों का अंत करना चाहते हो, सो कहो।"

तब जरतकुमार ने जाना कि अरे ! यह तो जानवर के बदले कोई उत्तम मनुष्य मेरे बाण से घायल हो गया है, अत: खेदपूर्वक अपना परिचय देते हुए उसने कहा –

"इस पृथ्वी पर हरि वंश का नाम प्रसिद्ध है, जिस वंश में भगवान नेमिनाथ ने अवतार लिया, जिस वंश में श्रीकृष्ण ने जन्म लिया; उसी हरि वंश में मैं भी उत्पन्न हुआ हूँ....श्री वसुदेव, जो श्रीकृष्ण के पिता हैं, मैं उनका ही पुत्र जरतकुमार हूँ। जब नेमिनाथ प्रभु की वाणी से सुना कि बारह वर्ष बाद मेरे ही हाथ से मेरे भाई श्रीकृष्ण का मरण होगा.... तब से श्रीकृष्ण के मोह के कारण मैं उनकी रक्षा के लिए नगर छोड़कर इस निर्जन वन में आया हूँ.... और अकेला भ्रमण कर रहा हूँ.... इस वन में मुझे बारह वर्ष से भी अधिक समय बीत गया है। (रे जीव ! भवितव्य के योग से तू गिनती भूल गया है.... अभी बारह वर्ष पूरे नहीं हुए.... जैसे द्वारिका के नगरजन तथा द्वीपायन मुनि भी दैवयोग से गिनती भूल गये थे.... वैसे ही तुम भी....)

जरतकुमार आगे कहते हैं – "इस वन में मैं बारह वर्ष से अकेला घूम रहा हूँ। अभी तक मैंने यहाँ उत्तम पुरुष के वचन नहीं सुने, इसलिए तुम कौन हो और यहाँ क्यों आये हो ? सो कहो।"

(अरे देखो तो जरा ! पुण्ययोग के समाप्त होने पर श्रीकृष्ण जैसे महात्मा की भी ऐसी दशा हो गयी कि उनका भाई ही उन्हें समझ न सका....)

श्रीकृष्ण समझ गये कि ये मेरे बड़े भाई जरतकुमार हैं। अहो !

भगवान द्वारा कथित भवितव्य कभी मिथ्या नहीं होता। श्रीकृष्ण ने जरतकुमार को स्नेह से अपने पास बुलाया – "हे भाई ! तुम यहाँ मेरे पास आओ।"

पास आते ही जरतकुमार ने श्रीकृष्ण को पहचान लिया कि – "अरे ! यह तो वासुदेव !! मेरा छोटा भाई !!! क्या मेरे ही बाण से घायल हो गया ? हाय ! मुझे धिक्कार है ! मुझे धिक्कार है !!" ऐसा कहकर उसने धनुष-बाण फेंक दिया और श्रीकृष्ण के पास ही गिर गया।

"हे बड़े भाई ! तुम शोक न करो, सर्वज्ञ के द्वारा कथित भवितव्य अलंघ्य है। मेरे प्राणों के लिए तो तुम राजपाट, सुख-सम्पदा छोड़कर अकेले वन में रहे, भवितव्य के निवारण हेतु बहुत कोशिश की; परन्तु भवितव्य टल नहीं सकता। बाहर में भाग्य ही जिस समय प्रतिकूल हो, उस समय हम क्या प्रयत्न कर सकते हैं ? इसलिए तुम शोक छोड़ो, अब सर्वज्ञ भगवान पर श्रद्धा रखो, इन हिंसादि पापों को छोड़ो और श्रावक के व्रत धारण करो।"

श्रीकृष्ण के प्रेमपूर्वक वचनों को सुनकर जरतकुमार का चित्त शान्त हुआ और उन्होंने श्रीकृष्ण से इस वन में आने का कारण पूँछा ?

तब श्रीकृष्ण ने दुखी होकर कहा – "हे भाई ! द्वारिका नगरी तो जल गयी, जो वैराग्यवन्त जीव त्यागी होकर चले गये, वे ही बचे; बाकी सब भस्म हो गये.... पूरे यादव कुल का नाश हो गया....माता-पिता को भी हम न बचा सके। मात्र हम दो भाई ही बाहर निकल सके और दक्षिण की ओर जाते समय इस वन में आये....।"

सारी द्वारिका नगरी के समस्त यादव कुल का नाश सुनकर जरतकुमार बहुत विलाप करने लगा.... अरे ! वहाँ सारी नगरी के यादव जल गये, यहाँ तक कि माता-पिता भी भस्म हो गये और आज हमारे हाथ से तुम्हारा घात हुआ। अरे रे ! अब मैं क्या करूँ ? मेरे चित्त को समाधान

कैसे होगा ? भाई के घात से मेरा महान अपयश हुआ, मैंने महापाप बाँधा और मैं ही दुखी हुआ.... ऐसा कहकर वह बहुत विलाप करने लगा।

श्रीकृष्ण ने कहा – हे भाई ! विलाप छोड़ो.... इस संसार में सभी जीव अपने कर्म के अनुसार जीवन-मरण, संयोग-वियोग प्राप्त करते हैं। दूसरे कोई मित्र या शत्रु उसे सुख-दुख देने वाले नहीं हैं।

हे बन्धु ! बलदेव मेरे लिए पानी लेने के लिए गये हैं, वे यहाँ आयें, उसके पहले शीघ्र ही तुम यहाँ से चले जाओ। जब वे यहाँ आकर मेरी यह हालत देखेंगे, तब उन्होंने क्रोधित होकर कदाचित् तुम्हें मार डाला, तो अपना वंश ही न रहेगा। अपने वंश में तुम अकेले ही बचे हो, इसलिए तुम श्रावक व्रत धारण करके पाण्डवों के पास जाओ, तुम उनसे सब बात करो। वे हमारे परम हितैषी हैं, जिससे हमारे कुल की रक्षा करने के लिए वे तुम्हें राज्य देंगे।'' निशानी के लिए अपनी कौस्तुभंमणि श्रीकृष्ण ने देते हुए कहा – ''इस चिह्न से पाण्डव तुम पर विश्वास करके तुम्हारा आदर करेंगे। इस मणि को छिपाकर ले जाना'' – ऐसा कहकर क्षमाभाव पूर्वक श्रीकृष्ण ने उन्हें विदा दी।

जरतकुमार ने भी क्षमाभाव धारण किया....और उनके पैर का बाण सावधानी पूर्वक निकालकर कहा – ''हे देव ! क्षमा करो।'' – ऐसा कहकर वहाँ से चले गये।

श्रीकृष्ण को बाण लगने के कारण भयंकर वेदना हो रही थी, अपना अन्त समय जानकर उन्होंने अपना मुख उत्तर दिशा की ओर किया और पल्लव देश में विराजमान श्री नेमिनाथ जिनेन्द्र भगवान को याद करके नमस्कार किया.... यादव कुल के ईश्वर भगवान नेमिनाथ के अनन्त गुणों को स्मरण करके बारम्बार नमस्कार किया। पंच-परमेष्ठी का स्मरण किया। तीनों काल के तीर्थंकरों-सिद्धों-साधुओं और जिनधर्म की शरण लेकर, पृथ्वी के नाथ पृथ्वी पर गिर गये।

वे विचार करने लगे – "अरे मेरे पुत्र-पौत्र-स्त्री-बन्धु-गुरुजन आदि द्वारिका के भस्म होने से पहले संसार से विरक्त होकर जिनेन्द्र भगवान के मार्ग की आराधना करके तप में प्रवर्ते – वे धन्य हैं और अग्नि का उपद्रव होने पर हजारों रानियाँ तथा परिवार परम समाधि योग को धारण करके देह छोड़कर स्वर्ग लोक में गये; परन्तु अग्नि के उपद्रव से कायर नहीं हुए – वे सभी धन्य हैं। अप्रत्याख्यान कषाय के कारण मैं श्रावक के या मुनि के व्रत न ले सका, परन्तु केवल सम्यक्त्व को ही धारण किया, वही मुझे संसार-समुद्र से पार करने के लिए हस्तावलंबन रूप है। जिनमार्ग में मेरी श्रद्धा अत्यन्त दृढ़ है।"

भावी तीर्थंकर ऐसा शुभ चिंतन कर रहे थे, परन्तु अंतिम समय में परिणाम किंचित् संक्लेश रूप हो गये....और देह छोड़कर तीन खण्ड के नाथ मेधाभूमि-परलोक पधारे। कौशाम्बी वन से वे परभव सिधारे।

अरे ! प्यास बुझाने के लिए पानी मँगाया.... परन्तु पानी आने से पहले ही प्राण छूट गये.... अहो ! इस क्षणभंगुर संसार में ऐसे महापुरुषों का शरीर भी स्थिर नहीं तो दूसरों की क्या बात ?

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सब को एक दिन, अपनी-अपनी बार ॥

अरे ! कहाँ तीन खण्ड पृथ्वी का राजवैभव और कहाँ पानी के बिना निर्जन वन में मृत्यु ! पुण्य के समय सेवा करने वाले हजारों देवों में से कोई भी इन प्यासे को पानी पिलाने नहीं आया। संयोगों का क्या भरोसा।

थोड़ी देर बाद बलभद्र पानी लेकर आये.... आकर देखा तो श्रीकृष्ण निश्चेष्ट होकर सो रहे हैं.... तीव्र प्रेम के कारण उन्हें श्रीकृष्ण की मृत्यु की कल्पना भी कहाँ से हो ?

प्यासे श्रीकृष्ण का जरतकुमार के बाण से देह विलय हो गया। बलभद्र व्याकुल होकर कहते हैं –

"अरे कृष्ण ! तुम सो गये !! उठो.... भैया ! मैं पानी लेकर आ गया हूँ।"

जन्म में या मरण में.... रे जीव ! तू तो अकेला ही है।

उन्होंने तो यही सोचा कि थकान के कारण श्रीकृष्ण को नींद आ गई है, अत: श्रीकृष्ण को जगाने के लिए हिलाकर कहा –

"उठो.... भाई ! मैं तुम्हारे लिए पानी लेकर आ गया हूँ।"

परन्तु कौन उठे ? कौन बोले ? बहुत प्रयत्न किया, परन्तु श्रीकृष्ण न उठे। तब बलभद्र उन्हें कन्धे पर उठाकर आगे चल दिये।

श्रीकृष्ण के वियोग से छह माह तक बलभद्र का चित्त बहुत उद्विग्न रहा। अन्त में उनका सारथी, जो कि मरकर सिद्धार्थ देव हुआ था, उसने आकर सम्बोधन किया –

"हे महाराज ! जिस प्रकार रेत में से तेल नहीं निकलता, पत्थर पर घास नहीं उगती, मरा हुआ पशु घास नहीं खाता। उसी प्रकार मृत्यु को प्राप्त मनुष्य फिर से सजीव नहीं होता, तुम तो ज्ञानी हो; इसलिए श्रीकृष्ण से मोह छोड़ो और संयम धारण करो।"

सिद्धार्थ देव के सम्बोधन से बलभद्र का चित्त शांत हुआ।

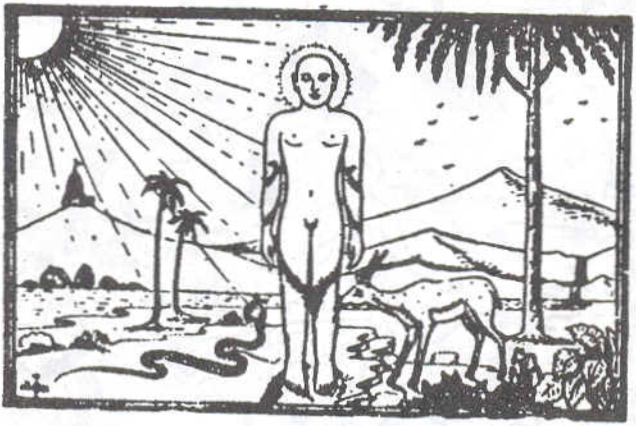

उन्होंने संसार से विरक्त होकर उन्होंने जिनदीक्षा ली, आराधना पूर्वक समाधि-मरण करके स्वर्ग गये। ●

नया आत्मज्ञान मनुष्य को आठ वर्ष की आयु के पहले प्रगट नहीं होता, परन्तु जो पूर्वभव से ही आत्मज्ञान साथ में लेकर आते हैं, उन्हें तो बचपन में भी आत्मज्ञान रहता है। जिनको अभी तो डगमगाते कदमों से चलना भी न आता हो, किन्तु अन्दर में देह से भिन्न आत्मा का अनुभवज्ञान निरन्तर चल रहा हो; ऐसे आराधक जीव तो छुटपन से ही ज्ञानी होते हैं। – **छहढाला प्रवचन भाग-१, पृष्ठ १२१**

पाण्डवों का वैराग्य

(श्रीकृष्ण की मृत्यु के बाद श्रीकृष्ण के कहे अनुसार जरतकुमार पाण्डवों के पास जाते हैं और उन्हें सारा वृत्तान्त बताते हैं। आगे क्या होता है ? – इसे इस कहानी में पढ़िये।)

जरतकुमार के द्वारा द्वारिका नगरी के नाश का तथा श्रीकृष्ण की मृत्यु का समाचार सुनकर पाण्डव एकदम शोकमग्न हुए। उन्होंने द्वारिका नगरी फिर से नई बसायी और श्रीकृष्ण के भाई जरतकुमार को द्वारिका के राजसिंहासन पर बिठाया....।

तब नेमिप्रभु तथा श्रीकृष्ण के समय की हरी-भरी द्वारिका तथा वर्तमान की द्वारिका का हाल-बेहाल देखकर पाण्डव शोकातुर हो गये, वे वैराग्य से ऐसा चिन्तवन करने लगे –

"अरे, यह द्वारिका नगरी देवों द्वारा रचायी गई थी, वह भी आज पूरी जलकर राख हो गयी है। प्रभु नेमिकुमार जहाँ की राजसभा में विराजते थे और जहाँ हमेशा नये-नये मंगल उत्सव होते थे, वह नगरी आज सुनसान हो गयी। कहाँ गये रुक्मणि आदि रानियों के सुंदर महल और कहाँ गये वे हर्ष से ओतप्रोत पुत्र आदि कुटुम्बी जन। वास्तव में कुटुम्बादि का संयोग क्षणभंगुर है, वह बादल के समान देखते ही देखते विलय हो जाते हैं। संयोग तो नदी के बहते प्रवाह जैसे चंचल हैं, उन्हें स्थिर नहीं रखा जा सकता। संसार की ऐसी विनाशीक दशा देखकर विवेकी जीव विषयों के राग से विरक्त हो जाते हैं।

वास्तव में तो जिन स्त्री-पुत्र-पौत्र वगैरह को जीव अपना मानते हैं, वे अपने हैं ही नहीं। जहाँ यह पास रहने वाला शरीर ही अपना नहीं है, तब दूर रहने वाले परद्रव्य अपने कैसे हो सकते हैं ? बाह्यवस्तु में सुख-दुख मानना तो मात्र कल्पना ही है। अपनी वस्तु तो मात्र ज्ञानस्वरूपी आत्मा ही है। विषयभोग मूर्ख जीवों को ही सुखकर लगते हैं, परन्तु वास्तव में वे नीरस हैं और उनका फल दुखरूप है।

जो मूढ़ अज्ञानी जीव उसके सेवन से अपने को सुखी मानते हैं, वे आँखें होते हुए भी अन्धे होकर दुखरूपी कुएँ में गिरते हैं और दुर्गति में जाते हैं। खुजली के समान इन्द्रिय-विषयों के भोग का फल दुखदायक ही है और उनसे जीव को कभी तृप्ति नहीं मिलती। विषयों के त्याग और चैतन्यसुख के सेवन से ही इस जीव को तृप्ति मिल सकती है।

पाँच-इन्द्रियों के विषयों में लीन जीव पाँच प्रकार के परिवर्तन रूप दीर्घ संसार में चक्कर लगाते हैं और मिथ्यात्व की वासना के कारण अपने हित-अहित का विचार नहीं कर सकते तथा धर्म की तरफ उनकी रुचि भी जागृत नहीं होती। अत: मोक्षसुख को चाहने वाले भव्य जीवों को मिथ्यात्व और विषय-कषायों का त्याग करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म प्राप्त करने का उद्यम करना चाहिये।"

इस प्रकार वैराग्यपूर्वक विचार करते-करते वे पाण्डव द्वारिका से प्रस्थान करके पल्लव देश में आये और वहाँ विराजमान श्रीनेमिनाथ तीर्थंकर के दर्शन किये। उन्होंने प्रभु के केवलज्ञान की स्तुति की और धर्म की पिपासा के साथ उनका धर्मोपदेश सुना।

प्रभु की दिव्यवाणी में चिदानन्द तत्त्व की स्वानुभूति और मोक्षसुख की अपूर्व महिमा सुनकर उन पाण्डवों का चित्त शान्त हुआ....उन्हें आत्मशुद्धि की वृद्धि प्राप्त हुई.... संसार से उनका चित्त विरक्त हुआ और मोक्ष को साधने के लिए वे उत्सुक हुए। वे विचारने लगे –

"अरे! नेमिनाथ प्रभु के समान तीर्थंकर का साक्षात् सुयोग मिलने पर भी अब तक हम असंयम में ही रहे और तुच्छ राज्यभोगों के लिए अनेक बड़ी से बड़ी लड़ाईयाँ भी लड़-लड़कर अपना जीवन गवाँ दिया।

अरे! श्रीकृष्ण के समान अर्द्ध चक्रवर्ती राजा का राज्य भी जहाँ स्थिर नहीं रहा। द्वारिका नगरी देखते-देखते आँखों के सामने ही सारी जल गई और श्रीकृष्ण जैसा राजा भी पानी के बिना वन में मृत्यु को प्राप्त हुआ।

अहो ! इस संसार में राग, पुण्य और उनका फल सब कुछ अध्रुव और अशरण है....। जहाँ पुण्य भी जीव को शरणरूप नहीं हो सकता, वहाँ अन्य की क्या बात ?''

इस प्रकार वैराग्यचित्तपूर्वक पाँचों पाण्डव, द्रोपदी तथा माता कुन्ती और सुभद्रा आदि सभी नेमिनाथ प्रभु के समवशरण में बैठे हैं। सबका चित्त असार-संसार से थक गया है और जिनदीक्षा हेतु तत्पर हैं। तभी युधिष्ठिर अत्यन्त वैराग्यपूर्वक प्रभु से विनती करते हैं –

''हे देव ! हम पाँचों भाई एवं द्रोपदी अपने पूर्वभव जानने को इच्छुक हैं, तब अचिन्त्य वैभवयुक्त प्रभु की दिव्यवाणी में उनके पूर्वभव की कथा इस प्रकार व्यक्त हुई –

''युधिष्ठिर-भीम-अर्जुन ये तीनों भाई पूर्वभव में चंपापुरी में ब्राह्मण के पुत्र थे – १. सोमदत्त, २. सोमिल और ३. सोमभूति। इसी प्रकार नकुल, सहदेव और द्रोपदी – ये तीनों पूर्वभव में अग्निभूति ब्राह्मण की पुत्रियाँ थीं – १. धनश्री २. मित्रश्री और ३. नागश्री।

इन तीनों कन्याओं का विवाह उन तीनों भाईयों के साथ हुआ था अर्थात् युधिष्ठिर और नकुल – ये दोनों भाई तथा भीम और सहदेव – ये दोनों भाई पूर्वभव में पति-पत्नि थे। इसी प्रकार अर्जुन और द्रौपदी भी पूर्वभव में पति-पत्नि थे।

एक बार उन तीनों भाईयों के आंगन में धर्मरुचि नामक मुनिराज पधारे.... सबने आदरपूर्वक उन्हें आहारदान दिया.... परन्तु उस समय नागश्री (द्रौपदी के जीव) ने मुनिराज का अनादर किया.... और अयोग्य आहार दिया.... जिससे मुनिराज का समाधिपूर्वक मरण हुआ, परन्तु इस प्रसंग को जानकर तीनों भाईयों को अत्यन्त दुख हुआ –

''अरे ! रे !! हमारे आंगन में जिनमुनिराज का अनादर'' – ऐसा विचारकर उन्होंने वैराग्य धारण करके जिनदीक्षा ले ली और आत्मसाधना

करके स्वर्ग में जन्म लिया.... वहाँ से निकलकर यहाँ युधिष्ठिर-भीम-अर्जुन के रूप में मनुष्य जन्म प्राप्त किया है।

उधर उन तीनों भाईयों की पत्नियों में से नागश्री को छोड़कर दोनों पत्नियों ने भी आर्यिका व्रत धारण किया और आत्मसाधना पूर्वक स्वर्ग में गईं.... वहाँ से निकलकर यहाँ सहदेव और नकुल हुए हैं।

नागश्री का जीव (जो अभी द्रौपदी है) मुनि की विराधना के दुष्ट परिणाम के कारण मरकर नरक गया। बाद में दृष्टिविष नामक भयंकर सर्प होकर पुनः नरक गया। बाद में भी बहुत काल तक उसने स्थावर के अनेक भव धारण किये और घोर दुख भोगे। बाद में पापकर्मों का अनुभाग कुछ क्षीण हुआ तो वह चंपापुरी में चाण्डाल कन्या हुई, तब मुनिराज के पास से जैनधर्म का स्वरूप सुनकर मद्य-माँस-मधु वगैरह का त्याग करके शुभभाव पूर्वक मरकर उसी चंपापुरी में ही एक सेठ के यहाँ ''सुकुमारी'' नामक कन्या हुई, परन्तु उसका शरीर कुरूप और दुर्गन्धी था, इस कारण उसका पति भी उससे दूर-दूर रहता था, अतः वह अपने दुर्भाग्य पर खेद करती थी –

''अरे...अरे ! मैंने पूर्वभव में धर्म का अनादर करके पाप बाँधा, इसीलिए मेरा अनादर हो रहा है।'' इस प्रकार अपनी निंदा करके पश्चाताप तथा उपवास करती थी।

एक बार उसके आंगन में आर्यिका संघ आया, उनमें दो आर्यिका अत्यन्त सुकोमल और कम उम्र की थी.... उन्हें विवाह-मंडप में ही जाति-स्मरण ज्ञान होने से वैराग्य धारण करके दीक्षा ग्रहण कर ली थी। उनकी कथा सुनकर सुकुमारी (नागश्री अथवा द्रौपदी का जीव) का चित्त भी संसार से विरक्त हुआ.... तब उसने आत्मज्ञान (सम्यक्त्व) के बिना ही आर्यिकाव्रत धारण किया।

एक समय की बात है, जब उसने एकबार वसंतसेना नामक वेश्या

को अनेकों वैभव के साथ जाते देखा, जिसकी पाँच कामी पुरुष सेवा कर रहे थे.... उसका ऐसा ठाट-बाट देखकर अज्ञान से उस सुकुमारी-अर्जिका ने यह निदान बन्ध किया कि मुझे भी भविष्य में ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो।

वहाँ से मरकर वह स्वर्ग में गई। सोमदत्त (अर्जुन) का जीव जो पूर्वभव में उसका पति था और स्वर्ग में गया था, उसकी वह देवी बनी। उस पर्याय को छोड़कर यहाँ द्रौपदी के रूप में उत्पन्न हुई है। पूर्वकृत अशुभ निदान बन्ध के उदय के कारण वह सती (मात्र अर्जुन की पत्नि) होने पर भी "पंचभर्तारी" के नाम से जगत में विख्यात हुई है, परन्तु उसका चित्त वास्तव में संसार से उदास होकर धर्म के प्रति जागृत हुआ।

इस प्रकार प्रभु श्रीनेमिनाथ तीर्थंकर की सभा में अपने पूर्वभवों का वृतान्त सुनकर उन पाण्डवों और द्रौपदीं का चित्त संसार से एकदम विरक्त हुआ और विशुद्ध परिणाम पूर्वक उन्होंने प्रभु के सन्मुख जिनदीक्षा धारण की।

अहो ! युधिष्ठिर-भीम-अर्जुन-नकुल-सहदेव – ये पाँचों भाई जैन मुनि होकर आत्मध्यान में लीन हुए और पंचपरमेष्ठी पद को सुशोभित करने लगे। उन्हें देखकर सभी आश्चर्य को प्राप्त हुए.... स्वर्ग के देव भी आनंदपूर्वक उत्सव करने लगे। तभी द्रौपदी, माता कुन्ती और सुभद्रा ने भी राजमती-आर्यिका के पास जाकर दीक्षा ले ली।

उसके ब्राद विहार करते-करते वे पाण्डव मुनिराज सौराष्ट्र देश में आये.... नेमिनाथ प्रभु की कल्याणक भूमि गिरनार की यात्रा की.... तत्पश्चात् वैराग्य भूमि सहस्र आम्रवन में थोड़े दिन रहकर आत्मध्यान की उग्रता के द्वारा वीतरागता की वृद्धि की.... बाद में शत्रुंजय सिद्धक्षेत्र पर आकर निष्कंप आत्मध्यान करने लगे.... अहो ! परमेष्ठी पद में झूलते वे पाँचों पाण्डव मुनिराज पंचपरमेष्ठी जैसे ही शोभित हो रहे थे।

शत्रुंजय पर्वत पर घोर उपसर्ग के बीच पाँच पाण्डव मुनिवरों द्वारा भायी गई

वैराग्य भावना

(शत्रुंजय पर्वत पर पाँच पाण्डव मुनिवर युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल व सहदेव संसार से विमुख होकर आत्मस्वरूप में उपयोग को एकाग्र करके शुद्धोपयोगरूप आत्मध्यान कर रहे थे.... शत्रु-मित्र के प्रति उन्हें समभाव था, उसी समय दुर्योधन के दुष्ट भानजे ने उन्हें देखकर – 'इन लोगों ने ही मेरे मामा को मारा है' – ऐसा विचार करके बैरबुद्धि से बदला लेने के लिए वह तैयार हुआ।)

उस दुष्ट जीव ने भयंकर क्रोधपूर्वक लोहे के धधकते मुकुट आदि बनवाकर मुनिवरों के मस्तक पर पहनाकर उन पर अग्नि का घोर उपसर्ग किया.... धधकते लोहे के मुकुटों से मुनिवरों के मस्तिष्क जलने लगे.... हाथ-पैर जलने लगे.... ऐसे घोर उपसर्ग के बीच भी निजस्वरूप से डिगे बिना उन्होंने बारह वैराग्य-भावना का चिंतन किया और युधिष्ठिर-भीम-अर्जुन – इन तीन मुनिवरों ने तो उसी समय निर्विकल्प शुद्धोपयोगपूर्वक क्षपकश्रेणी मांडकर केवलज्ञान प्रकट करके मोक्ष प्राप्त किया। शेष नकुल और सहदेव – इन दो मुनिवरों को अपने भाईयों संबंधी सहज विकल्प हो जाने से केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई, परन्तु वैराग्य भावना पूर्वक सर्वार्थसिद्धि नाम के सबसे ऊँचे देवलोक में गये.... वहाँ से निकलकर वे भी मोक्ष प्राप्त करेंगे।

शत्रुंजय सिद्धक्षेत्र पर उपसर्ग के समय पाण्डव मुनिवरों ने जिन उत्तम भावनाओं के द्वारा आत्मकल्याण किया था, उन भावनाओं की प्रत्येक मुमुक्षुजीव को भावना करनी चाहिये। पाण्डव-पुराण के अनुसार उन वैराग्य-भावनाओं को यहाँ दिया जा रहा है।)

प्रथम तो, अग्नि के द्वारा जलते शरीर को देखकर उन धीर-वीर पाण्डवों ने क्षमारूपी जल का सिंचन किया, पंच परमेष्ठी और धर्म के चिंतन के द्वारा वे आत्मसाधना में स्थिर हो गये। आत्मा में क्रोधाग्नि को प्रवेश नहीं होने दिया, जिससे वे जले नहीं। वे जानते थे कि यह अग्नि कभी भी हमारी आत्मा को नहीं जला सकती, क्योंकि आत्मा तो देह से भिन्न शुद्ध चैतन्य-स्वरूप अरूपी है। अग्नि इस मूर्तिक शरीर को भले ही जला दे, परन्तु उससे हमारा क्या नुकसान है ?

"मैं तो ध्यान के द्वारा शांत चैतन्य में स्थिर रहूँगा।"

इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा के चिन्तन के द्वारा महान उपसर्ग विजयी पाण्डव मुनिराजों ने ध्यानरूपी अग्नि प्रकट की। बाहर में शरीर जल रहा था और अन्दर में ध्यानाग्नि के द्वारा कर्म भस्म हो रहे थे। उस समय वे पाण्डव मुनिवर बारह वैराग्य भावना में तत्पर थे –

भवचक्र में भ्रमते कभी, भायी नहीं जो भावना।
भवनाश करने के लिए, भाऊँ अलौकिक भावना॥

(१) अनित्य भावना – संसार में जीवन क्षणभंगुर है, बादलों के समान देखते-देखते विलीन हो जाता है। धन, दौलत, मकान, कुटुम्ब, शरीर आदि जो भी दिखाई देते हैं, वे सब नश्वर हैं। भोगोपभोग अनित्य हैं, वे किसी के साथ स्थिर नहीं रहते। महान पुण्यशाली चक्रवर्ती को भी जब तक पुण्य का उदय रहता है, तब तक ही वह सामग्री रहती है। पुण्य समाप्त होने पर वह भी रफूचक्कर हो जाती है। जगत में एक अपनी आत्मा ही ऐसी वस्तु है जो कि सदा शाश्वत रहती है, जिसका कभी वियोग नहीं होता। इसलिए हे आत्मा ! तू समस्त बाह्य वस्तुओं से ममत्व हटाकर स्व में ही स्थिर हो.... ये ही वस्तु तुम्हारी है।

लक्ष्मी-शरीर, सुख-दुख अथवा शत्रु-मित्र जन हों अरे।
ये कोई भी ध्रुव नहीं, ध्रुव उपयोग अत्मिक जीव है॥

भरत चक्रवर्ती जैसा छह खण्ड का अधिपति भी जब नित्य नहीं रहा तो फिर अरे जीव ! तू किससे स्नेह करता है ? किसे अपना समझता है ? अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा के अलावा दूसरी वस्तु को अपना समझना, वह सिर्फ इस जीव की मूर्खता है ! इसलिए हे जीव ! ऐसे व्यर्थ विकल्प जाल में मत पड़, तू तो आत्मचिन्तन में ही उपयोग को लगा, उसी में जीवन की सार्थकता है।

(२) अशरण भावना – जिस प्रकार भूखे सिंह के पंजे में पड़े हुए हिरण की कोई रक्षा नहीं कर सकता, उसी प्रकार मृत्यु के मुख में पड़े हुए प्राणी की कोई रक्षा नहीं कर सकता। कोई ऐसा कहे कि मैं तो लोहे के मकान में रहकर शस्त्रादि एवं धनादि से जीवन की रक्षा कर लूँगा अथवा कोई औषधि-मंत्र-तंत्र से जीवन को बचा लूँगा, तो उसका यह कथन केवल बकवास ही है।

वास्तव में जिसकी आयु पूरी हो गई हो, उसकी कोई रक्षा कर ही नहीं

सकता। कोई देव, इन्द्र या सुरेन्द्र वगैरह रक्षा करते हैं। यह भी कथनमात्र है; क्योंकि वे जब स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकते तो दूसरे की रक्षा कहाँ से करेंगे। अनित्यता रूप सदा परिणमते पदार्थ को कोई रोकने में समर्थ नहीं है.... इसलिए हे आत्मन्! तू इन सबका शरण लेने की बुद्धि को छोड़ और अपने अविनाशी चैतन्य स्वरूप आत्मा की शरण ले – ये ही सच्ची शरण है।

(३) संसार भावना – द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पंच परावर्तन मयी इस संसार में यह आत्मा निजस्वरूप को समझे बिना चक्कर लगा रहा है, कभी एक गति में तो कभी दूसरी गति में, कभी राजा तो कभी रंक, कभी देव तो कभी नारकी, कभी द्रव्यलिंगी साधु तो कभी कषायी – इस प्रकार बहुरूपिया होकर घूम रहा है। पंचविध परावर्तन में एक-एक परावर्तन का अनंत काल है। वह पंच परावर्तन इस जीव ने एक बार नहीं, अपितु अनंत बार पूरे किये हैं, तो भी विषयलालसा से उसका चित्त तृप्त नहीं हुआ तो अब कैसे होगा ? स्व-विषय को भूलकर तू सदा अतृप्तरूप ही मरा है।

इसलिये हे आत्मा ! अब तू विषय-लालसा छोड़कर आत्मस्वरूप में अपने चित्त को स्थिर कर। इस दुखमय संसारचक्र से छूटने का एकमात्र उपाय यही है कि तू बाह्य-विषयों के मोह को छोड़कर आत्म-ध्यान में लीन हो जा।

(४) एकत्व भावना – यह जीव अकेला ही आया है, अकेला ही जन्म-मरण के दुख भोगता है, अकेला ही गर्भ में आता है, अकेला ही शरीर धारण करता है, अकेला ही बालक-जवान-वृद्ध होता है, अकेला ही मरता है; इस जीव के सुख-दुख में कोई भी साथी नहीं है। अरे जीव ! जिस कुटुम्बादि को तू अपना समझता है, वे तुम्हारे नहीं हैं। कुटुंब वगैरह तो दूर, परन्तु ममता से जिस देह को तूने पुष्ट किया है, जिसके साथ चौबीसों घन्टे रहा, वह शरीर भी साथ में नहीं जाता, तब दूसरा कौन साथ जायेगा। इसलिए हे आत्मा ! तुम क्यों दूसरों के लिए पाप का बोझा अपने सिर बाँध रहे हो ? तुम तो सदा अकेले ही हो, इसलिए सबका मोह छोड़कर एक अपने आत्मा का ही चिन्तन करो, जिससे तुम्हारा हित होगा।

जीव अकेला ही मरे स्वयं, जीव अकेला जन्मे अरे।
जीव अकेला जन्मे-मरे, जीव अकेला सिद्धि लहे ॥

मेरा सुशाश्वत एक दर्शन-ज्ञान लक्षण जीव है।
बाकी सभी संयोग लक्षण, भाव मुझसे बाह्य हैं॥

(५) अन्यत्व भावना – पानी और दूध के समान शरीर और आत्मा का मेल दिखता है, परन्तु जैसे सचमुच दूध और पानी भिन्न-भिन्न हैं, वैसे ही वास्तव में आत्मा और शरीर भी भिन्न-भिन्न हैं। हे आत्मा ! तुमने शरीर और आत्मा को एक ही समझा, वह तुम्हारी भूल है। तुम्हारा तो ज्ञायकभाव है, चरित्रभाव है, रत्नत्रय स्वरूप आत्मा ही तुम्हारा है; इसलिए किसी अन्य के आश्रय से शांति होगी – ऐसी आशा छोड़कर तुम अपने एकत्व स्वरूप में ही रहो। तुम्हारी एकता ही तुम्हारी शोभा है, अन्य से तुम्हारी शोभा नहीं; अत: अन्य से भिन्न अनन्य स्वरूप आत्मा की भावना भाओ।

(६) अशुचि भावना – यह शरीर तो अशुचिता का पिटारा है, हाड़-माँस-खून-मवाद आदि से बना हुआ है। उसके नवद्वारों में से घृणाजनक मैल बहता रहता है, चन्दनादि उत्तम से उत्तम वस्तुएँ भी इस शरीर के संबंध होते ही दूषित हो जाती हैं, तो फिर अरे आत्मा ! तुम ऐसे अशुचि के स्थान रूप शरीर से मोह और प्रेम क्यों करते हो ? ये तुम्हारी महान भूल है कि तुम इस मलिन देह में मूर्छित रहते हो। कहाँ तो तुम्हारा निर्मल स्वरूप और कहाँ इसका मलिन स्वभाव। इसलिए शरीर को हेय समझ कर तुम शीघ्र उससे मोह छोड़ो तथा रागादि कषायों को भी पवित्र चेतन से विरुद्ध अपवित्र जानकर छोड़ो और अपनी पवित्र ज्ञान गंगा में स्नान करके पावन हो, इसी में तुम्हारा कल्याण है।

(७) आस्रव भावना – नदी में छेदवाली नाव जिस प्रकार पानी भरने से डूब जाती है, वैसे ही मोहरूपी छिद्र द्वारा आत्मा में कर्म आते हैं और उसे संसार-समुद्र में डुबा देते हैं। उन कर्मों के आने का मुख्य कारण मिथ्यात्व है। उसके बाद कषाय का छोटा कण भी जीव को कर्म का आस्रव कराता है ? इसलिए हे जीव! तुम चैतन्य में लीनता के द्वारा वीतरागी होकर सर्व आस्रवों को रोको और निरास्रवी हो जाओ – ऐसा करने से ही तुम्हारी आत्मारूपी-नौका इस भव-समुद्र से पार होगी और तुम्हारा कल्याण हो जायेगा।

(८) संवर भावना – कर्म के आस्रव को रोकना, वह संवर है।

सम्यग्दर्शन पूर्वक आत्मध्यान से ही संवर होता है। प्रथम तो सम्यग्दर्शन मात्र से ही मिथ्यात्वादि अनंत संसार का संवर हो जाता है। संवर होने के बाद यह आत्मा संसार में नहीं भटकती, उसे मोक्ष का मार्ग मिल जाता है। इसलिए हे आत्मा ! अब तू संसार की झंझटों को छोड़कर उस पुनीत संवर का आश्रय कर।

मिथ्यात्व आदिक भाव को, चिरकाल भाया जीव ने।
सम्यक्त्व आदिक भाव रे, भाया नहीं कभी जीव ने॥

अहो ! भवनाश करने वाली अपूर्व आत्मभावना इसी क्षण भाओ। उपयोग स्वरूप आत्मा को अनुभव में लेकर समस्त परभावों को नष्ट करो। चारित्रमोह की सेना का भी क्षपक श्रेणी आरोहण कर सर्वथा नाश करो।

(९) निर्जरा भावना – सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनके द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है। जिस प्रकार धधकती अग्नि में कढ़ाई का सभी पानी शोषित हो जाता है, उसी प्रकार उग्र आत्मभावना के प्रताप से विकार जल जाता है। निर्जरा दो प्रकार की होती है – सविपाक और अविपाक। जिसमें सविपाक निर्जरा तो सभी जीवों को होती रहती है, मोक्ष की कारण रूप अविपाक निर्जरा सम्यग्दृष्टि, व्रतधारी तथा मुनिराजों को ही होती है और वही आत्मा को कार्यकारी है। इसलिए हे आत्मा ! तू आत्मध्यान की उग्रता के द्वारा अविपाक निर्जरा को धारण कर, जिससे केवलज्ञानी होने में तुझे देर न लगे। सम्यग्दर्शन होते ही असंख्यात गुनी निर्जरा शुरू हो जाती है और मुनि होने के बाद ध्यान के द्वारा उग्र पुरुषार्थ करके अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो जाता है। परमात्मस्वभाव का लक्ष्य करनेवाला सम्यग्दर्शन भी धीरे-धीरे आठ कर्मों को जलाकर खाक कर देता है, तब उस परमात्म स्वरूप आत्मा के ध्यान की एकाग्रतारूप शुद्धोपयोग से कर्म का नाश होने में कितनी देर लगेगी ?

इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा संतुष्ट रे।
इससे ही बन तू तृप्त तुझको, सुख अहो ! उत्तम मिले॥

(१०) लोक भावना – अनंत जीव-अजीव के समूह रूप इस लोक का कोई बनाने वाला नहीं है अर्थात् ये तो अनादि सिद्ध अकृत्रिम निरालंबी है। कोई इसका नाश नहीं कर सकता और कोई इसे बना नहीं सकता। अनंत अलोक के

बीच में जैसे यह लोक बिना आलंबन के रहता है, वैसे ही लोक में मेरा आत्मा भी बिना किसी आलंबन के है, इसलिए परावलंबी बुद्धि छोड़कर मैं अपने आत्मा का ही अवलम्बन लूँ – जिससे मेरी लोक यात्रा पूरी हो और लोक का सर्वोत्कृष्ट स्थान मुझे प्राप्त हो।

कमर के ऊपर हाथ रखकर और पैर फैलाकर खड़े हुए पुरुष के समान इस लोक का आकार है – इस प्रकार इस लोक में जीव सम्यग्दर्शन और समभाव के बिना ही अनंतकाल से चार गति में घूम रहा है।

इसलिए हे आत्मा ! तू उर्ध्व-मध्य और अधोलोक का विचित्र स्वरूप विचार कर सम्पूर्ण लोक में सर्वोत्कृष्ट महिमावंत ऐसे अपने आत्मा में स्थिर हो, जिससे तुम्हारा लोक-भ्रमण मिटे और स्थिर सिद्धदशा प्रगटे। लोक का एक भी प्रदेश आगे-पीछे नहीं होता, उस लोक में जीव-अजीव द्रव्यों की संख्या में एक को भी बढ़ाया-घटाया नहीं जा सकता।

(११) बोधिदुर्लभ भावना – जीव को मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल, निरोग शरीर, दीर्घ आयुष्य, जैनशासन, सत्संग और जिनवाणी का श्रवण – ये सब मिलना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। भाग्यवश ये सब मिलने पर भी धर्मबुद्धि जागना और भी दुर्लभ है। ये बुद्धि जागने पर भी अंतर में सम्यक्त्व का परिणमन होना परम दुर्लभ है – अपूर्व है। सम्यक्त्व होने पर मुनिधर्म को धारण करना दुर्लभ है और मुनिधर्म धारण करने के बाद स्वरूप में स्थिर होकर केवलज्ञान प्रगट करना वह सबसे अधिक दुर्लभ है।

इसलिए हे आत्मा ! तुम इस महा दुर्लभ योग को प्राप्त कर अब अति अपूर्व आत्मबोध के लिए प्रयत्नशील होओ। वह परम दुर्लभ होने पर भी श्रीगुरु के प्रताप से, आत्मरुचि के बल से सहज सुलभ हो जाती है। सम्यक्त्वादिक रत्नत्रय प्रगट करना ही सच्चा लाभ है, उसी में सच्चा सुख है। रत्नत्रय प्रगट करके जीव की नौका भव से पार हो जाती है। परम दुर्लभ सम्यक्त्व रूपी बाण के बिना ही जीव-योद्धा संसार में घूम रहा है। जिस यौद्धा के पास कमान हो, परन्तु बाण न हो तो वह लक्ष्य को नहीं वेध सकता, उसी प्रकार जीवयोद्धा के पास व्रत और ज्ञान का उघाड़रूपी

कमान हो, परन्तु जो लक्ष्य वेधक बाण अथवा जीव को लक्ष्य में लेनेवाला सम्यक्त्व न हो तो वह मोह को नहीं वेध सकता और संसार से नहीं छूट सकता। इसलिए हे जीव! तुम सम्यक्त्व रूपी तीक्ष्ण तीर को प्राप्त कर अब मोह को सर्वथा वेध डालो, जिससे संसार की जेल से छुटकारा हो जाये और मोक्षसुख प्राप्त हो जाये।

(१२) **धर्म भावना** – सम्यग्दर्शनादि रूप जो धर्म है, उससे इस जीव को सुख की प्राप्ति होती है। धर्म तो आत्मा के उस भाव का नाम है, जो जीव को दुख से छुड़ाकर सुखरूप शिवधाम में स्थापित करे; इसलिए हे आत्मा! तू भावमोह से उत्पन्न हुए विकल्पों को छोड़कर शुद्ध चैतन्य रूप अपने आत्मा का दर्शन करके उसमें लीन हो जा। यही धर्म है और यही तुझे सुख रूप है। इसके अलावा संसार में जो विविध पाखण्डरूप धर्म दिख रहा है, वह वास्तव में धर्म नहीं है। तू यह बात बराबर समझ ले और निश्चय कर ले कि आत्मा का शुद्धोपयोग ही धर्म है। ऐसे धर्म को धारण करने से ही अचल सुख का अनुभव होता है।

– इस प्रकार बारह अनुप्रेक्षा भाकर समस्त सांसरिक भावों से विरक्त होकर वे पाण्डव मुनिवर चैतन्य-अनुभव में लीन हुए, युधिष्ठिर-भीम-अर्जुन ये तीन मुनिवर शुद्धोपयोग की लीनता के द्वारा क्षपक श्रेणी में आरूढ़ हो गये, घाति कर्मों को घात कर, अंत:कृत केवली हुए और सिद्धालय में जाकर विराजमान हुए। अभी भी वे शत्रुंजय के ऊपर सिद्धालय में विराजमान हैं। उन्हें नमस्कार हो। दूसरे भाई एकावतारी होकर ''सर्वार्थसिद्धि'' के देव बने।

घोर उपसर्ग के समय शत्रुंजय पर्वत पर यह वैराग्य भावना पाण्डवों ने भायी थी – यह हम सभी को भी भानी चाहिये, क्योंकि वैराग्यभावना रूपी माता और भेदविज्ञान रूपी पिता ये ही सिद्धि के जनक हैं। घोर उपसर्ग में भी वैराग्यभावना ही शांति का सच्चा उपाय है।

सुख की सहेली है अकेली उदासीनता....।
अध्यात्म की जननी अकेली उदासीनता....॥